शोधादर्श

३८

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

जुलाई १९९९

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध/प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन
महामन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ—२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-३८

वीर निर्वाण संवत् २५२५ जुलाई १९९९ ई०

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन : गुणधर —श्री रमा कान्त जैन १३१

२. Keynote of the Jaina Path : Renunciation —डा० ज्योति प्रसाद जैन १३५

३. सम्पादकीय : न भूतो न भविष्यति : तीस-चौबीसी मन्दिर का प्रतिष्ठा महोत्सव —श्री अजित प्रसाद जैन १३९

४. कवि धनपाल रचित 'सच्चरिउ महावीर उत्साह' —श्री वेद प्रकाश गर्ग १४३

५. आत्म शोधन —डा० (बाल ब्र०) मनोरमा जैन १४६

६. पुनीत स्मरण : डा० जगदीश चन्द्र जैन—डा० अभय प्रकाश जैन १४९

७. प्राकृत भाषायें —डा० ऋषभ चन्द्र जैन 'फौजदार' १५१

८. चिन्तन कण : जरा सोचिये —जस्टिस एम० एल० जैन १५७

श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर

९. विचार-विन्दु :

वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता —श्री धर्मेन्द्र मोहन सिन्हा १६२

—डा० शशि कान्त १६६

१०. समाज दर्शन —डा० शशि कान्त १६८

११. The Jain Declaration on Nature

—डा० लक्ष्मी मल्ल सिंघवी १७२

१२. मैं कगार पर खड़ा —डा० शशि कान्त १७४

१३. रिपोर्ट : —श्री नलिन कान्त जैन

इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की ११वीं पुण्य तिथि १७९

गिलास आधा भरा है का विमोचन १८०

१४. रिपोर्ट : —कु० हेमा सक्सेना

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति

शोध पुस्तकालय स्थापना दिवस—श्रुत पंचमी १८४

१५. परिचय :

श्री विद्या बिनोद काला : एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

—श्री विवेक काला १८५

१६. साहित्य सत्कार

Pearls of Jaina Wisdom ;

Springs of Jaina Wisdom—श्री अजित प्रसाद जैन १८७

गिरनार महात्म्य ; ऋषभ भारती —श्री रमा कान्त जैन १८८

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर–The Jaina

Antiquary ; संस्कार सागर;

Acharya Yogindu's Yog-Saar—डा० शशि कान्त १८९

गिलास आधा भरा है —डा० परमानन्द जड़िया १९२

१७. समाचार विमर्श —श्री अजित प्रसाद जैन

शास्त्रि परिषद—हीरक जयन्ति व वार्षिक अधिवेशन १९४

कामदेव मन्दिर १९७

विमल समाधि मन्दिर—साधु मन्दिर २००

१८. अभिनन्दन — २०३

१९. समाचार विविधा — २०५

२०. शोक संवेदन — २०८

२१. आभार — २१०

२२. पाठकों की दृष्टि में — २१०

डा० लक्ष्मी मल्ल सिंघवी, श्री कपिल कुमार जैन,
श्री लाल चन्द्र जैन 'राकेश', प० पद्म चन्द्र शास्त्री,
श्री राजेन्द्र नगावत, श्रीमती सुधा बेन शेठ,
श्री सुन्दर सिंह जैन, श्री महावीर प्रसाद जैन सर्राफ,
श्री तिलोक मुनि, डा० रञ्जन कुमार,
डा० कैलाश नाथ द्विवेदी, डा० परमानन्द जड़िया,
श्री मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त', श्री मदन मोहन वर्मा,
श्री हुकम चन्द जैन, डा० रमेश चन्द्र जैन,
डा० जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल, ब्र० संदीप 'सरल',
श्री जमना लाल जैन, श्री विवेक काला,
श्री सुखमाल चन्द जैन, डा० राजाराम जैन

२३. इस अंक के लेखक — २२२

मूल्य १५ रु०

वार्षिक शुल्क ४० रु० (मनीआर्डर द्वारा प्रेष्य)

आवश्यक

कृपया वर्ष १९९९ का वार्षिक शुल्क ४० रु० (चालीस रुपये) मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' को यथाशीघ्र भेजने का अनुग्रह करें।

—प्रबन्ध सम्पादक

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिएं। यथासम्भव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक / पत्रिका सम्पादक को 'ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

— सम्पादक मण्डल

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

गुरुगुण-कीर्तन

गुणधर

जेणहि कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ।।

—जयधवला टीका, १/६

भावार्थ—जिन्होंने इस संसार में अनेक नयों से युक्त, उज्जवल, अनन्त तत्त्वात्मक **कषायप्राभृत** की गाथाओं में व्याख्या की उन **गुणधर भट्टारक** को मैं **(वीरसेन)** नमस्कार करता हूं ।

जयधवला टीका के उपर्युक्त श्लोक में **कषायप्राभृत** की गाथाओं में व्याख्या करने वाले जिन **गुणधर भट्टारक** को **वीरसेन स्वामी** (ल० ९वीं शती ई० पूर्वार्द्ध) द्वारा सादर नमन किया गया है उनकी अब तक ज्ञात एक मात्र कृति **कसायपाहुड** है । इसको **पेज्जदोसपाहुड** नाम से भी जाना जाता है । इस ग्रन्थ के ये नाम और इस ग्रन्थ का आधार ग्रन्थ के आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने निम्नांकित गाथा सूत्र में इंगित किये हैं—

पुव्वमि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए ।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ।।१।।

जिसका भावार्थ है कि पाँचवें पूर्व (ज्ञानप्रवाद पूर्व) की दसवीं वस्तु में जो पाहुड (प्राभृत) हैं उनमें जो **पेज्जपाहुड** है उसी का नाम **कसायपाहुड** (कषायप्राभृत) है ।

'पेज्ज' शब्द का अर्थ 'राग' बताया जाता है और इससे 'राग-दोष' और 'राग-द्वेष' अर्थ भी ग्रहण किये जाते हैं । चूंकि कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) में राग-दोष या, यूं कहिये, राग-द्वेष अन्तर्निहित रहते हैं, अतः कषायों की व्याख्या करने वाले इस ग्रन्थ के **पेज्जदोसपाहुड** और **कसायपाहुड** दोनों ही नाम समीचीन समझे गये हैं । 'पेज्जदोस' का संस्कृत रूप 'प्रेयदोष' प्रतीत होता है ।

कहा जाता है कि पाचवें पूर्व की दसवीं वस्तु में समाहित **पेज्जदोसपाहुड** मूलत: १६,००० पद प्रमाण था जिसे आत्मसात कर

गुणधर भट्टारक ने विषय का निरूपण संक्षेप में मात्र १८० गाथा सूत्रों में करने का संकल्प किया था। किन्तु बाद में उन्होंने ५३ गाथायें, विषय को स्पष्ट करने हेतु, और जोड़ीं तथा ग्रन्थ का आकार २३३ गाथा सूत्र हो गया। कुछ विद्वानों का मानना है कि बाद की ५३ गाथाएं गुणधर की न होकर परवर्ती किसी अन्य की हो सकती हैं, क्योंकि **कषायपाहुड** पर चूर्णि सूत्रों के रचनाकार यतिवृषभ ने इन बाद की गाथाओं पर चूर्णि नहीं लिखी। इन गाथा सूत्रों की भाषा प्राकृत है।

जयधवला टीका के श्लोक ६ व ७ से विदित होता है कि गुणधर के मुख से निकली गाथाओं का सम्पूर्ण अर्थ आर्यमंखु और उनके अन्तेवासी नागहस्ती ने ग्रहण किया था और उस पर यतिवृषभ ने ६००० वृत्तिसूत्रों या चूर्णिसूत्रों की रचना की थी। यतिवृषभ से इन चूर्णिसूत्रों का अध्ययन कर उच्चारणासूत्रों की रचना की गई बताई जाती है। उसके बाद गुरु-परिपाटी से यह सिद्धान्त ग्रन्थ कुण्डकुन्द नगर में श्री पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुआ बताया जाता है। तदनन्तर काफी समय बीतने पर शामकुण्ड आचार्य द्वारा उक्त **कषायप्राभृत** और आचार्य धरसेन द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि से लिखाये गये **षट्खण्डागम** ग्रन्थ (महाबन्ध नामक छठे खण्ड को छोड़कर) पर १२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत, संस्कृत और कर्णाटक भाषा से मिश्रित पद्धति रूप एक ग्रन्थ की रचना किये जाने का उल्लेख मिलता है। तदनन्तर कर्णाटक में तुम्बलूर ग्राम में हुए तुम्बलूर नामक आचार्य द्वारा इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर (षष्ठ खण्ड को छोड़कर) कर्णाटक भाषा में ८४ हजार श्लोक प्रमाण **चूड़ामणि** नामक महती व्याख्या लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् शुभनन्दि और रविनन्दि मुनि, जिन्हें गुरु परम्परा से इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों का व्याख्यानक्रम प्राप्त हुआ था, से बप्पदेव ने इनका अध्ययन कर उन पर टीकाएं रचीं। इनमें **कषायप्राभृत** पर रची गई टीका का नाम **उच्चारणा** बताया जाता है। उसके काफी समय पश्चात चित्रकूटपुर निवासी सिद्धान्तों के ज्ञाता एलाचार्य के पास सकल सिद्धान्त का

अध्ययन कर पञ्चस्तूपान्वयी आर्यनन्दि के शिष्य वीरसेन स्वामी ने वाटग्राम के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में **षट्खण्डागम** ग्रन्थ पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण **धवला टीका** विक्रम संवत् ८३८ (७८१ ई०) में पूर्ण की थी और तदनन्तर उन्होंने **कसायपाहुड** पर यतिवृषभ् के वृत्तिसूत्रों (चूर्णिसूत्रों) पर **जयधवला टीका** लिखना आरम्भ की और उसकी चार विभक्तियों पर २० हजार श्लोक प्रमाण रचना करके वह दिवंगत हो गये। उनके पश्चात् उनके शिष्य जिनसेन स्वामी ने शेष भाग पर ४० हजार श्लोक प्रमाण और रचना कर उक्त टीका को शक संवत् ७५९ (८३७ ई०) में पूर्ण किया था।

श्रुतपरम्परा से प्राप्त १६,००० पद प्रमाण **पेज्जदोसपाहुड** अपरनाम **कसायपाहुड** के विषय का मात्र १८० गाथा सूत्रों में निबद्ध करने का विलक्षण कौशल रखने वाले गुणधर भट्टारक ने अपने जीवन, गुरु-परम्परा, समय आदि के सम्बन्ध में स्वयं कोई जानकारी नहीं दी और न ही अन्यत्र वह उपलब्ध है। इन्द्रनन्दि (ल० ९५० ई०) ने अपने **श्रुतावतार** में तत्सम्बन्धी जानकारी के अभाव का स्पष्ट उल्लेख निम्नवत किया है :—

गुणधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकआगममुनिजनाभावात् ।।१५१।।

[भावार्थ—उनके अन्वय (कुल परम्परा अथवा गुरु परम्परा) को कहने वाले आगमों और मुनिजनों के अभाव के कारण गुणधर और धरसेन के अन्वय के गुरुओं का पूर्वापर क्रम हमको ज्ञात नहीं है।] तदपि दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों और पट्टावलियों में संरक्षित भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष उपरान्त (१५६ ई०) तक हुए ३२ प्रमुख आचार्यों की सूची और समय की सूचना का परीक्षण करने पर डा० ज्योति प्रसाद जैन ने अपनी The Jaina Sources of the History of Ancient India में यह मत व्यक्त किया है कि यद्यपि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नाम उक्त आचार्य सूची में क्रमशः क्रमांक ३१, ३२ व ३३ पर अंकित हैं, २९वें आचार्य अर्हद्बलि जिनका समय ल० ईस्वी ३८ से ६६ है, ने जब दक्षिणापथ के जैन मुनियों का सम्मेलन आन्ध्र प्रदेश में वेण्य नदी

के तट पर स्थित वेणाकतटीपुर अथवा महिमापुर में आहूत किया था तब सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करने वाले अष्टांग महानिमित्त ज्ञाता आचार्य धरसेन ने इस आशंका से कि कहीं उनके साथ-साथ बचा हुआ आगम ज्ञान विलुप्त न हो जाय, उसे लिपिबद्ध कराने हेतु दो सुयोग्य विद्वान मुनियों को उनके पास भेजे जाने का अनुरोध उक्त सम्मेलन के आचार्य से किया था और यह कि उनके अनुरोध पर वहां से पुष्पदन्त और भूतबलि भेजे गये थे, अतः आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य अर्हद्बलि के समकालीन रहे होंगे। डा० जैन ने धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय क्रमशः ल० ईस्वी ४०-७५, ५०-८० और ६६-९० तथा **षटखण्डागम** के पूर्ण होने का समय ल० ७५ ई० अनुमानित किया है।

यह उल्लेख मिलता है कि उक्त सम्मेलन में आचार्य अर्हद्बलि ने तत्समय विद्यमान विभिन्न गुरु परम्पराओं के शिष्य मुनियों को चिन्हित करने के उद्देश्य से जिन भिन्न-भिन्न नामों से उनके संघ बनाये थे उनमें एक गुणधर संघ भी था जो विवेच्य गुणधर भट्टारक के नाम पर आधारित रहा प्रतीत होता है। गुणधर भट्टारक का नाम उक्त ३३ प्रमुख आचार्यों की सूची में नहीं है, कदाचित् इसलिये कि वह किसी आचार्य पट्ट पर नहीं बैठे। किन्तु **पेज्जदोसपाहुड** के ज्ञाता और उस पर गाथा सूत्रों में **कसायपाहुड** रचने वाले गुणधर भट्टारक के आर्यमंखु और नागहस्ति जैसे शिष्य तो रहे ही, हो सकता है उन्हें लक्ष्य कर आचार्य अर्हद्बलि ने उन्हें गुणधर संघ का नामांकित किया हो। अतः विवेच्य गुणधर भट्टारक भी यदि आचार्य अर्हद्बलि से पहले नहीं हुए हों तो कम से कम उनके सम-कालीन रहे होंगे और उनका समय अधिक से अधिक पहली शती ईस्वी अनुमानित किया जा सकता है। उनके शिष्यों द्वारा दक्षिणा-पथ के जैन मुनियों के उक्त सम्मेलन में भाग लेने से तथा कालान्तर में दक्षिण भारत में, विशेष कर उनकी कृति पर टीकाएं रचे जाने से यह अनुमान किया जाता है कि वह भी कदाचित् दक्षिण भारत के रहे हों। उनकी कृति को आधार बना कर कालान्तर में हुआ विपुल साहित्य सृजन आज भी उनका नाम अमर किये हुए है।

—**रमा कान्त जैन**

Keynote of the Jaina Path : Renunciation

—Dr. Jyoti Prasad Jain

In order to satisfy his physical needs or to gratify his sensual desires, no less than his ego, man is instinctively urged to acquire and possess material things. In this never-ending pursuit of power and pelf, he conveniently forgets that he very often hurts others, contravenes their lawful rights, and endangers or destroys their life and property callously. The tendency, in its turn, becomes the root cause of social inequalities and social injustice, of class wars, racial or communal riots and political conflagarations at times involving the entire human race. Besides wholesale destruction of life and property and untold misery and suffering, society as a whole degenerates and progress is retarded. Man forgets himself.

Social sceintists and politicians seem to try their best to find out means and ways in order to counteract these disquieting trends, but have so far failed to arrive at a satisfactory durable solution. Everybody hates and fears pain or suffering and longs to be happy. But to a worldly-minded person, happiness consists in the gratification of desires, and human desires have an uncanny tendency to multiply. It is, therefore, absolutely impossible to satisfy fully all the desires that an individual may have entertained. The result is that all the mental gymnastic and heart-breaking exertions of the worldly wise dismally fail to bring to him unalloyed and lasting happiness.

In this hopeless state of affairs, there is, however, a bright ray of hope, and it emanates from our

old friend, religion, the very concept of which implies that by putting restraints on objective mundane pursuits, one must come back to his own subjective nature—his inner self. The chief object of religion is self-realisation—realisation of the divinity inherent in one's self. And, it is achieved by bringing under control the lower instincts associated with bodily functions, and by freeing the spirit from the bonds which have inextricably enmeshed it. Self-discipline, the discipline of body, speech and mind, involving in the first instance the regulation of the senses, is an effective means of awakening the soul and helping its progress on the path of spiritual evolution, leading ultimately to unending transcendental bliss, whence there is no return.

True, there are religions and religions. Most of the known and prevalent systems, though beneficial to an extent, fall short of the ultimate purpose in as much as they encourage man, directly or indirectly, to go on pursuing mundane interest and the satisfaction of desires for acquisitions or indulgence in sensual pleasures, by advocating that through propitiation of God or a variety of gods and goddesses he would be able to obtain all that he desires here and now and to thwart calamities, sufferings and misfortunes. These **pravritti-pradhana** creeds encourage the 'doing' and 'enjoying' side of human nature, and tend to dull the spirit of forbearance, abjuration and sacrifice. But, there are some religions which do the reverse, and Jainism, the creed of the Nirgantha Shramana Tirthankaras of ancient India is the most conspicuous among **nivritti-pradhana** systems—its very keynote is Renunciation.

The spirit of renunciation and self-sacrifice has been the marked trait of the Jaina path of religion as practised and preached by the Tirthankaras like Mahavira. At the time of his or her initiation, an ascetic aspirant has to take the vow of absolute possessionlessness or Aparigraha. Those who do not renounce the world and remain householders, as most men and women are and have ever been, they are advised to observe as an Anuvrata, the Bhogopabhoga-parimana, or a partial limitation and progressive minimisation of one's luxuries, comforts and even basic needs. They also practise the Digvratas which help in strengthening this spirit of willing renunciation by a gradual systematic limitation of one's mundane activities.

Mahavira is rightly called the greatest Apostle of Ahimsa and his motto was 'live and help others to live', which reflects the positivism of this seemingly negative creed. His true followers are known for their devotion to the preservation of life, aiming at a peaceful coexistence of all living beings. They are ever inspired by the noble example of Mahavira himself who, to quote Carlyle, 'made his claim of wages a Zero.' Thus, renunciation is the first corollary of the doctrine of Ahimsa.

It is imperative, therefore, that one should earnestly try to curtail his wants and set a limit to his acquisitions and possessions. Even a pioneer of modern socialism advocates that every person at a certain stage of his life should say to himself, "Here I will stop ; that which I have already earned is enough and I shall not try to get more". This is

exactly what the Parigraha-parimana Anuvrata of the Jaina Path exhorts its lay aspirants to practise in life. It obviously implies that it is not enough to curtail or limit one's possessions, but he should use the surplus for the benefit of others. Moreover, he must never dream of depriving other people of their legitimate possessions, or acquiring anything by dishonest or unlawful means. This you can do only when you have annihilated the evil attachment to worldly things and have developed a spirit of **tyaga** or renunciation in you, without which mere charity or parting with your possessions is no good. So long as the greed or desire to acquire and possess is not curbed, so long as one's senses are not brought under control, so long as one does not bring about, by his own free will and choice, without any outside compulsion or ulterior motive, a transformation in his values of life, his renunciation, if not actually a farce, will fail to give the desired results.

The Jinas of yore, including Bhagawan Mahavira, were the embodiments of genuine renunciation. Those who sincerely followed them and translated their ideal in their own lives are the living examples thereof. If willingly, sincerely and rationally practised, even though partially, this spirit of renunciation will go a great way in bringing about peace and happiness to individuals and to the human society as a whole. Verily, the keynote of the Jaina path of religion is the noble concept of Renunciation.

——

सम्पादकीय

न भूतो न भविष्यति :
तीस-चौबीसी मन्दिर का प्रतिष्ठा महोत्सव

तीर्थ राज श्री सम्मेद शिखर की उपत्यका मन्दिर नगरी मधुबन में तीस-चौबीसी मन्दिर का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव दि० १८ से २६ अप्रैल, १९९९, में पू० आचार्य श्री भरत सागर भट्टारक व अन्य मुनि/आर्यिका संघों के सानिध्य में विधि-विधान पूर्वक सम्पन्न हो गया।

सम्पूर्ण मध्य लोक के दसों कर्म भूमि क्षेत्रों (५ भरत व ५ ऐरावत क्षेत्रों) में विगत उत्सर्पिणी व वर्तमान अवसर्पिणी काल में जन्मे तथा आगत उत्सर्पिणी काल में जन्मने वाले (इस प्रकार तीस कोड़ा-कोड़ी सागर वर्षों की महाकालावधि के) तीस-चौबीसी तीर्थंकरों का यह विशाल मन्दिर स्व० आचार्य श्री विमल सागर म० का कल्पना प्रसून है जिसका निर्माण उन्हीं के पट्टधर शिष्य आ० श्री भरत सागर म० के सक्रिय मार्ग दर्शन में हुआ है। इसे **विश्व का पहला तीस-चौबीसी मन्दिर** घोषित किया गया है। इस दावे को माने जाने में कोई आपत्ति भी नहीं प्रतीत होती। यद्यपि हमारे पास अन्य ९ क्षेत्रों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के कोई साधन अभी तक विकसित नहीं हुए हैं और न ही कोई अवधि ज्ञानी मुनिराज अब विचरण करते हैं, फिर भी इतना तो सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि इतने महान् कल्पनाशील मुनिराज अन्य क्षेत्रों में नहीं हो सकते।

इस महामन्दिर का पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भी अपनी विशालता, भव्यता तथा वैभव प्रदर्शन में अद्वितीय रहा। देश के कोने-कोने से आये श्रेष्ठियों व अन्य श्रद्धालु दर्शनार्थियों का जमावड़ा भी अभूतपूर्व था। दानवीरों के सहयोग से दिल्ली, जयपुर व मुम्बई से निःशुल्क चलाई गई ट्रेनों से भी ४००० दर्शनार्थी पहुंचे। पंखों, टी० वी० सैटों आदि से सज्जित तथा रंग-बिरंगे वस्त्रों से

मण्डित एवं दर्शकों से भरा विशाल पंडाल तथा मुनि-आर्यिका संघों सहित शताधिक इन्द्र-इन्द्राणियों की मंच पर उपस्थिति महोत्सव को अपूर्व भव्यता प्रदान कर रही थी। महोत्सव पर हुआ **व्यय करोड़ों में** आंका गया है।

अग्नि कांड—यद्यपि ऐसे महोत्सवों में अग्नि से दुघर्टना होना कोई नई बात नहीं रह गई है तथा सोनागिर, आगरा, जयपुर आदि के अग्नि कांड अभी ज्यादा पुराने नहीं हुए हैं तथापि जन्म कल्याणक के दिन अपरान्ह में बिजली के शार्ट सर्किट से लगी आग ने जिस प्रकार ५-७ मिनिट में विशाल भव्य पण्डाल को राख के ढेर में तबदील कर दिया, उसकी भयंकरता ने भी एक रिकार्ड स्थापित कर दिया। न केवल समारोह पण्डाल ही वरन् भोजन पण्डाल भी समस्त भोजन सामग्री सहित मिनटों में ही भस्मसात हो गया। सैंकड़ों लोगों के शरीर पर झुलसने से बड़े-बड़े फफोले पड़ गए; २२ गम्भीर रूप से जले जिन्हें गिरडीह, कलकत्ता आदि नगरों के अस्पतालों में भर्ती कराना पड़ा। ये प्रायः सभी इन्द्र-इन्द्राणियों की भूमिका निभा रहे थे। इनमें एक छुल्लिका जी भी हैं। एक महिला और एक बालक की जलते पण्डाल में ही मृत्यु हो गयी; पांच अन्य मौतों की पुष्टि हो चुकी है, कुछ और अपुष्ट हैं; एक आर्यिका जी की हादसे से भी मृत्यु हो जाने का समाचार मिला था। यह तो गनीमत हुई कि उस समय पण्डाल में कोई कार्यक्रम नहीं चल रहा था, वर्ना त्रासदी कई गुना होती।

लूटमार की घटना—वापसी में लौटते हुए इस हादसे से आहत यात्रियों से भरी चार बसें मधुबन से थोड़ी दूर पर ही असामाजिक तत्त्वों द्वारा लूट ली गईं। किसी महोत्सव के प्रसंग से लूटमार की भी यह अब तक की सबसे बड़ी दुघर्टना थी।

दो महत्वपूर्ण लेख—कलकत्ता से प्रकाशित प्रगतिशील मासिक पत्रिका **दिशाबोध** के मई १९९९ के अंक में इस पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग से दो महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुये हैं :—

(१) जैन जगत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार-पत्रकार श्री नीरज जैन

(सतना) ने अपने लेख **"दहकते पण्डाल के कुछ सुलगते सवाल"** में समाज से कुछ चुभते प्रश्न किए हैं जिन पर गम्भीर रूप से विचार किए जाने की अपेक्षा की जाती है। कुछ अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न निम्न प्रकार हैं—

(i) इतने बड़े आयोजन में प्राकृतिक एवं आकस्मिक दुघर्टनाओं से यात्रियों की सुरक्षा हेतु कुछ पुख्ता इन्तजाम क्यों नहीं किये गए ? अग्नि-शामक दल की भी समारोह स्थल पर व्यवस्था नहीं थी और वह पास के शहर से घण्टों बाद घटना-स्थल पर पहुंच पाया। जल की कमी तो थी ही।

(ii) **यशाकांक्षा का गुरु मन्त्र**—विश्व में प्रथम बार—अब साधु और श्रावक सब अभूतपूर्व बनना चाहते हैं, सामान्य में अब कोई रस नहीं। इस यशाकांक्षा का प्रदर्शन इस पूरे समारोह पर छाया रहा। "न भूतो न भविष्यति" की दंभ पूर्ण उक्ति का प्रदर्शन भी जोर-शोर से हुआ। वीतरागता की शिक्षा देने वाले पंच कल्याणक महोत्सवों में क्या यह उचित है ?

(iii) **जन्म कल्याणक**—पहले प्राचीन प्रतिष्ठा शास्त्रों के अनुसार तीर्थंकर के माता-पिता की स्थापना एक काष्ठ मंजूषा में की जाती थी। अब नवीनता के नाम पर प्रतिष्ठा विधि में नाना प्रकार की विकृतियों का समावेश कर दिया गया है। पात्रता-अपात्रता पर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान न दे कर अब ऊंची बोली के आधार पर ही माता-पिता बनाए जाने लगे हैं। किसी शिशु को पालने में झुला कर तीर्थंकर शिशु का अभिनय कराया जाने लगा है। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में तो **बालक तीर्थंकर के काजल आंजने के लिए बुआ की डाक भी हुई जो सम्भवतः विश्व में पहली बार ही हुई है।** क्या यह उचित है ?

(iv) **वैभव का प्रदर्शन और अपव्यय**—परम वीतराग भगवान जिनेन्द्र और लोक कल्याणकारी मार्ग की प्रभावना के मुख्य अभिप्राय से आयोजित इन महोत्सवों में वैभव का प्रदर्शन और अपव्यय प्रमुख हो गया है और वही आयोजन की सफलता आंकने का मापदण्ड

बन गया है, किन्तु क्या आज यह प्रभावना का निमित्त होने के बजाय ईर्ष्या और कुप्रभावना का हेतु बन कर नहीं रह गया है ? (चार यात्री बसों का वापसी में मधुबन से कुछ ही दूरी पर लूट लिए जाने की घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।—सम्पादक)

(v) इतनी बड़ी दुखद घटना के हो जाने के बावजूद भी सभी निर्धारित कार्यक्रम समयानुसार पूरे किए गये, यहाँ तक कि संगीत सम्राट रवीन्द्र जैन तथा नृत्यकार डी० पी० कौशिक की प्रस्तुतियां जैसे जन-मन-रंजक कार्यक्रम भी यथा समय सम्पन्न हुए । क्या यह संवेदनहीनता की पराकाष्ठा नहीं थीं ? (राष्ट्रीय शोक की दुखद स्थिति में देश की सरकार तक सभी पूर्व निर्धारित सांस्कृतिक कार्यक्रम रद्द कर देती है ।—सं०)

अन्त में श्री नीरज ने समाज से आग्रह किया है कि हमें मधुबन में २३ अप्रैल को हुई इस भीषण अग्नि काण्ड दुघर्टना की पुनरावृत्ति न होने पाए, इसकी ईमानदार कोशिश करनी चाहिए ।

(२) दूसरा लेख "पंच कल्याणक महोत्सव : एक पुनर्मूल्यांकन" शीर्षक से अ० भा० दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद के विद्वान अध्यक्ष प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी का है, जो इस प्रतिष्ठा महोत्सव के धार्मिक कार्यक्रमों के प्रमुख वक्ता भी थे । प्राचार्य जी का कहना है कि "इन धार्मिक अनुष्ठानों में अब वाह्याडम्बर और प्रदर्शन का अतिरेक होने लगा है तथा अब इनसे धार्मिक संस्कारों को जीवन्त बनाए रखने की प्रेरणा शायद ही किसी को मिलती हो । इनमें अब सुप्रसिद्ध गायकों एवं नर्तकों के मनोरंजक कार्यक्रमों की भरमार होने लगी है । अधिक से अधिक भीड़ जुटाना ही आज इन आयोजनों की सफलता का मापदण्ड मान लिया गया है । इन्हें एक भव्य मेले या प्रदर्शनी का रूप प्रदान करना ही अब हमारा एक मात्र उद्देश्य रह गया प्रतीत होता है । एक-एक महोत्सव पर २०-३० लाख से लेकर दो-ढाई करोड़ रुपयों तक के व्यय का अब तक कीर्तिमान स्थापित किया जा चुका है । (उच्चतम कीर्तिमान स्पष्टतः इसी प्रतिष्ठा महोत्सव में स्थापित हुआ है ।—सं०)

(शेष पृष्ठ १७५ पर)

कवि धनपाल रचित 'सच्चरिउ महावीर उत्साह'

—श्री वेद प्रकाश गर्ग

आदिकालीन हिन्दी जैन—साहित्यान्तर्गत ११वीं शताब्दी में प्राप्त होने वाली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है—**सच्चरिउ महावीर उत्साह** (सत्यपुरीय महावीर उत्साह)। इसका रचनाकाल सं० १०८१ के लगभग है और इसके रचनाकार धनपाल हैं।[1] इस रचना को लिखते समय वह काफी वृद्ध हो गये थे। सम्भवतः ८० के आस-पास की आयु के थे। कवि धनपाल मालवपति मुंज और भोज की सभा के विद्वान और अग्रणी पंडित थे। कवि ने राजा भोज के कुतूहल को मिटाने के लिए **तिलक मंजरी** जैसी प्रसिद्ध गद्य-आख्यायिका की रचना की थी। इनकी और भी कई रचनायें मिलती हैं।[2]

धनपाल की 'उत्साह' नामक उक्त रचना का सम्पादन मुनि जिन विजय जी ने पाटण के भण्डार में उपलब्ध सं० १३५७ की प्रतिलिपि से किया था और इसका प्रकाशन काफी समय पहले **जैन साहित्य संशोधक** (सं० १९८४/१९२७ ई०) में हुआ था।[3] रचना ११वीं शताब्दी की होने से भाषा की जानकारी के लिये महत्त्वपूर्ण है यद्यपि रचना की भाषा के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मुनि जिन विजय जी तथा श्री के० का० शास्त्री इसको अपभ्रंश की ही ठहराते हैं,[4] किन्तु श्री अगरचन्द नाहटा इसे शुद्ध अपभ्रंश न मान कर, प्राचीन राजस्थानी से प्रभावित उत्तर अपभ्रंश की मानते हैं और उन्होंने इसे वीर गाथा काल के भाषा-काव्यों के अन्तर्गत ही रखा है।[5] यही कारण है कि विद्वानों ने इस रचना को अपभ्रंश एवं प्राचीन राजस्थानी की समझ कर इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, किन्तु रचना की भाषा से प्रकट है कि यह कृति अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के बीच की एक कड़ी है, अतः इस रचना का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

यह रचना एक उल्लास प्रधान गीत है, जो स्तुति परक है। यह स्तुति १५ रोला छन्दों में है। इस छोटी-सी रचना का महत्त्व

ऐतिहासिक भी है। यद्यपि यह कृति 'उत्साह' संज्ञक काव्य-रूप से संबंधित है, किन्तु प्रस्तुत रचना की भांति परवर्ती साहित्य में 'उत्साह' संज्ञक रचनाओं का अभाव ही है। श्री अगरचन्द नाहटा जी के अनुसार भी 'उत्साह' संज्ञक केवल यही एक रचना प्राप्त हुई है। वस्तुतः अपभ्रंश से इतर पुरानी हिन्दी में सर्वप्रथम यही जैन रचना 'उपलब्ध' होती है, जिसका कई दृष्टियों से महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उत्साह संज्ञक रचना का वस्तु-शिल्प किसी काव्य-रूप विशेष के लिये रूढ़ नहीं है। यह तो एक स्तुति मूलक गीति रचना है, जो कवि के आह्लाद-विशेष और उत्साह-विशेष को प्रस्तुत करती है।

'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' एक अनुभूति प्रधान गीति-रचना है, जिसकी विषय वस्तु का सीधा सम्बन्ध इतिहास से है। प्रस्तुत स्तुति का स्थान 'सत्यपुर' है, जो मारवाड़ का 'साँचोर' नामक स्थान है।[6] यह स्थान भगवान महावीर का एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ रहा है। रचना में भगवान महावीर की मूर्ति इसी स्थल पर वर्णित है, जो 'उत्साह' का विषय है।[7] कहा जाता है कि मारवाड़ की साँचोर-स्थित भगवान महावीर की मूर्ति को तोड़ने में महमूद गज़नवी (वैसे रचना में किसी का नाम नहीं है, किन्तु कवि के समय को देखते हुए ऐसा अनुमान किया गया है) असफल रहा, तो भक्तों में इससे बड़ा उल्लास-उत्साह हुआ और अपनी उल्लास-मयी भावनाओं के उद्वेग की उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे उत्प्रेरित हुए। धनपाल की यह रचना उसी उल्लास की प्रतिक्रिया का रूप है, जिसमें मूर्ति के यश-वर्णन द्वारा महावीर के दैवीय सामर्थ्य का प्रकटीकरण किया गया है।

कवि धनपाल ने रचना का प्रारम्भ प्रार्थना से करते हुए इसमें भगवान महावीर के यश की विशालता का वर्णन किया है। यद्यपि इस कृति में कला-पक्ष (अलंकार आदि) का उस दृष्टि से अभाव ही है जैसा किसी साहित्यिक कृति में माना जाता है, किन्तु फिर भी भाषा, काव्य रूप तथा तत्कालीन समय में साहित्य की प्रामाणिक रचनाओं के रूप में इस 'उत्साह' जैसी छोटी कृतियों का भी पर्याप्त

महत्त्व है। इस गीति-मुक्तक में एक धारावाहिकता है तदपि प्रत्येक पद में स्वतन्त्र भाव है और सभी पदों में कवि का उल्लास मुखरित है। रचना अनुरंजनात्मक और प्रभावोत्पादक है।

इस रचना की सबसे बडी विशेषता इसके जन-गीत के रूप में लोक-प्रिय होने में है। इसीलिए जैन-समाज में आज भी 'उत्साह' जैसे आह्लादक गीत कण्ठस्थ करके प्रतिदिन पाठ किए जाते हैं। कवि ने सत्यपुरीय जिनेन्द्र महावीर के शौर्य का वर्णन पर्याप्त कुशलता से किया है कि किस प्रकार मूर्तिभंजक तुरुष्क आक्रमणकर्ता ने कुल्हाड़ों से महावीर की मूर्ति पर आघात किया, किन्तु मूर्ति के चमत्कार से व्याकुल होकर उसे वहाँ से हटना पड़ा। कवि का वर्णन है कि मूर्ति पर कुल्हाड़े के घाव आज भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—

पुणवि कुहाड़ा हत्थि लेवि, जिणवर तणु ताड़िउ।
पच्छुत्थडवि कुहाड़ेहि सो सिरि अंबाडिउ।
अज्जवि दीसहिं अंगिछाय, तसु धीरह,
चलण जुवलु सच्चरिउ नयरि पणमहुं तसु वीरह।

सन्दर्भ-संकेत :—

१. कवि धनपाल के पिता का नाम सर्वदेव था। इनके पितामह देवर्षि मध्य देश के सांकाश्य (वर्तमान फर्रुखाबाद जिले का संकिसा नामक ग्राम) के रहने वाले ब्राह्मण थे और उज्जयिनी में आ बसे थे। धनपाल संस्कृत-प्राकृत के प्रगाढ़ पंडित एवं सुकवि थे। इनके सम्बन्ध में धनपाल-प्रबन्ध, भोज-प्रबन्ध आदि में कई आख्यान दिए गये हैं। प्रभावक चरित से ऐसी सूचना मिलती है कि धनपाल ने सांचौर के महावीर की स्तुति की थी।

२. धनपाल की अन्य रचनाओं में पाइय लच्छी नाममाला (प्राकृत कोश), ऋषभ पंचासिका एवं वीर थुइ मिलती है। नाममाला ग्रन्थ उसने अपनी विदुषी बहन सुन्दरी के लिये सं० १०२९ में बनाया था। इसमें उसने प्रसंग वश मालव-नरेश श्री हर्ष (सीयक) द्वारा वि० सं० १०२९ में राठोड़ों की राजधानी मानखेट को लूटने का वर्णन भी किया है।

३. देखिये खण्ड-३, अंक ३, पृ० २४१।

४. (अ) दे० वही, पृ० २४४; (आ) आपणा कवियो, पृ० ५५ पर श्री

(शेष पृष्ठ १४६ पर)

आत्म शोधन

—डा० (बाल ब्र०) मनोरमा जैन

आत्मकल्याण के अर्थ जो भी क्रियाएं की जाती हैं, वे सभी साधना की कोटि में आती हैं। उन सभी का लक्ष्य एक मात्र आत्म-शुद्धि, आत्म तृप्ति, आत्म शान्ति, परमात्म प्राप्ति ही होना चाहिये। हमें आन्तरिक विश्लेषण के द्वारा अपने बाह्य साधनों पर दृष्टिपात करना अभीष्ट है कि कहाँ और कितने ये साधन आत्मशुद्धि के मार्ग में सहायक हैं। कोई भी साधन आत्म प्राप्ति में यदि थोड़ा भी सहायक हो तो हमें उसे प्राणपण से ग्रहण कर लेना चाहिए, अन्यथा उसके ग्रहण करने का क्या प्रयोजन ?

आज व्यक्ति मोक्ष-पथ पर जब निकलता है तो अनेकविध माया-प्रपञ्च उसे इस प्रकार उलझा लेते हैं कि वह यह तो बिल्कुल भूल ही जाता है कि मेरा उद्देश्य आत्मविशुद्धि पूर्वक मुक्ति को पाना है। संसार के विविध प्रपञ्चों को ही धर्म और अमृत मानता हुआ वह निरन्तर अधर्म का पोषण और विष का पान करता रहता है बिना इस बात की चिन्ता किये कि ये उसे अमरता के स्थान पर

(पृष्ठ १४५ का शेष)

शास्त्री जी लिखते हैं—'यह कवि मालव पति मुखसिंधुराज और भोज की विद्वत् सभा में अग्रणी था। इसी कवि ने १५ गाथा का सत्यपुरीय महावीरोत्साह मंडन नामक अपभ्रंश-काव्य रचा है।'

५. दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४६, अंक ३, में श्री नाहटा जी का लेख-'वीर गाथा काल का जैन भाषा-साहित्य'।

६. यह स्थान अब भी जोधपुर मण्डल के दक्षिणी भाग में है। सत्यपुर के लिये जगचिन्तामणि ग्रन्थ में 'जयउ वीर सच्चरिउ मण्डन' उल्लेख मिलता है और विविध तीर्थ कल्प में भी सत्यपुर को 'विशेष कल्प' बताने का उल्लेख मिलता है। अतः स्पष्ट है कि सत्यपुर जैनियों का एक विशिष्ट तीर्थ था।

७. वैसे सरलता के लिए इसे वीर रस प्रधान स्तवन कहा जा सकता है, क्योंकि 'उत्साह' वीर रस का स्थायी भाव होता है, किन्तु संख्या में केवल एक होने से ऐसा दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता है। ★

मृत्यु की ओर ले जा रहे हैं, सत्य के स्थान पर असत्य की ओर ले जा रहे हैं, और जीवन के स्थान पर जड़ता की ओर ले जा रहे हैं।

आइये, जरा शोधन करें अपने जीवन का कि वास्तव में हम आत्माभिमुखता की ओर बढ़ रहे हैं अथवा संसार-चक्र में ही भ्रमण करते हुए अनेक विधि के माया-प्रपञ्चों से आकुल-व्याकुल होकर जीवन के अमूल्य क्षणों को बरवाद कर रहे हैं—

(१) क्या बहुत अधिक अच्छा बोलने वाला आत्मार्थी होता है ?

यदि ऐसा होता तो राजनैतिक नेता तथा फिल्मी नायक सबसे अधिक आत्मार्थी होते। परन्तु वे वास्तव में आत्मार्थी नहीं होते चाहे स्टेज पर कितना ही अच्छा बोलते हों। इसी प्रकार आत्मा की बात को मात्र अच्छा वक्ता बन कर स्टेज पर बोलने मात्र से कोई आत्मार्थी नहीं बन जाता जब तक वह स्वयं के जीवन को न बदले, अपने आप को सम्बोधित न करे, और माया-प्रपञ्च से दूर न रहे।

(२) क्या जिसके पास बहुत अधिक पब्लिक आये वह सच्चा मुमुक्ष है ? वह मोक्ष-पथ पर बढ़ा-चढ़ा है ?

नही, नहीं ! यह भी एक तृष्णा है जो रूप बदल कर ठगती है। आत्मतृप्ति मिलने के स्थान पर यहाँ भी तृष्णा का मुख बड़ा होता जाता है, अतः यह मोक्ष-पथ की कसौटी नहीं हो सकता।

(३) क्या बहुत अधिक मन्दिर, तीर्थ, धर्मशाला, आश्रम आदि बनवाने से संयमीव्रती आत्मा आत्मार्थी हो पाती है, मोक्ष-पथ पर चढ़ पाती है ?

नहीं, नहीं, नहीं ! काले धन को जमा करने वाले सेठ साहुकारों से धन बटोरकर उपरोक्त पुण्य कार्यों को करके क्या अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो सकता है ? क्या आत्माभिमुखता प्राप्त हो सकती है ? क्या ज्ञान के पट खुल सकते हैं ? यह एक आत्मखोज का, आत्मशोध का विषय है। अपनी अन्तरात्मा में यदि इसका उत्तर खोजें तो 'नहीं' ही उत्तर मिलेगा।

(४) क्या अहंकार पूर्वक लिखे गये पब्लिकेशन की मात्रा बढ़ाने से जीव (आत्मा) मोक्ष-पथ का पथिक बनता है और मोक्ष

के सोपानों पर, गुण-स्थानों में ऊपर-ऊपर चढ़ता है ?

कदापि नहीं ! यदि ऐसा होता तो आज के इस युग में अनेकविध प्रकाशन कार्य करवाने वाले अवश्य ज्ञान को प्राप्त हो गए होते। शाब्दिक ज्ञान तक ही सीमित रहकर आत्मा के बिषय में, आत्म शान्ति की प्राप्ति में, वे खोखले देखे जाते हैं।

(५) क्या बड़े-बड़ सेठ साहुकार, पत्थर पर नाम खुदवा कर दान देने वाले और बढ़-चढ़ कर बोलियाँ लेने वाले आत्म-शान्ति को प्राप्त करते है ?

यदि वे सच्चे अर्थों में मोक्ष के पथिक होते तो अशांति के महासागर में डूबे न होते। निकट से उनके जीवन का अध्ययन करें तो उनका जीवन अशांति के महासागर में हिलोरे लेता दिखाई देगा। वे स्वयं अपना विश्लेषण कर सकते हैं कि क्या उन्हें जीवन में शांति का रस मिला है ? सच्चे सुख की यवकणिका क्या उन्हें प्राप्त है ? प्रतिष्ठा-ख्याति, पूजा, लाभ के गहन भंवर में पड़ा वह कितना आकुल-व्याकुल हो रहा है इसे तो मात्र वह स्वयं ही जान सकता है अथवा सर्वज्ञ प्रभु।

(६) तो आत्मार्थी कौन ?

आत्मार्थी तो वही होता है जो मात्र आत्मा को ही अर्थ माने। अपने अन्दर में डुबकी लगा कर अपने अन्दर छिपी हुई सम्पदा को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। अपने भीतर छिपी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख रूप सम्पदा का अनुभव करे और उसको प्राणी मात्र में चैतन्य रूप आत्मा का अवलोकन होने लगे। उसका चित्त समस्त भयों से अतीत हो जाए। शोक, भय, राग और चाञ्चल्य रहित होकर ही वह अपनी सम्पदा को प्राप्त कर सकता है।

अतः सच्चे आत्मार्थी को प्राणपण से अपनी आत्म-सम्पदा की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मशोध पूर्वक ही अपने आत्मिक गुणों में वृद्धि करनी चाहिए। इन्द्रिय संयम, मन निरोध, स्वाध्याय, देव पूजा, गुरू उपासना आदि सभी क्रियाओं को एक मात्र आत्मशांति के लक्ष्य को ध्यान में रख कर ही किया जाए तभी आत्मलाभ को प्राप्त किया जा सकता है। ★

पुनीत स्मरण

डॉ० जगदीश चन्द्र जैन

—डॉ० अभय प्रकाश जैन

डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, जो अपनी अन्तिम सांस तक प्राकृत भाषा के उन्नयन के लिए अपनी मेधा के बल पर विश्व पटल पर छाये रहे, का जन्म २० जनवरी, १९०९ ई०, को उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के बसेड़ा गांव में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने गांव की पाठशाला में पाई। जब वे २ वर्ष के थे तभी पिता का साया सिर से उठ गया। पिता की मृत्यु के बाद अपने बड़े भाई की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से वे आगे बढ़ते रहे। घर की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। ऐसी हालत में बनारस में संस्कृत पाठशाला में पढ़ने लगे। लेकिन बदलते परिवेश के साथ उन्हें यह आभास हुआ कि संस्कृत की पढ़ाई ही पर्याप्त नहीं है, इसीलिये आयुर्वेद का अध्ययन भी करने लगे। बाल मन फिर बदला और अंग्रेजी का अध्ययन करने लगे। नान बाबू नामक एक शिक्षक उन्हें अंग्रेजी पढ़ाते थे। सन् १९२६ में उन्होंने मैट्रिक परीक्षा पंजाब बोर्ड से उत्तीर्ण की। डॉ० जैन के भाई उन्हें ओवरसियर बनाना चाहते थे, उन्होंने प्रयास भी किया, लेकिन बेमन की पढ़ाई में सफलता नहीं मिल पाई। इन्टर साइंस पास किया, इसी बीच सन् १९२९ में विवाह सूत्र में बंध गये। सन् १९३० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी०ए० की उपाधि प्राप्त की। अध्ययन के प्रति उनकी जिज्ञासा हमेशा बलवती रही। यही कारण था कि सन् १९३२ में डॉ० जैन ने दर्शन शास्त्र जैसे गम्भीर विषय को लेकर एम०ए० की उपाधि प्राप्त की।

सन् १९३३ में उन्हें कवीन्द्र रवीन्द्र के सानिध्य में रहकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ एक वर्ष कार्य करने का सुअवसर मिला। उन्हें रिसर्च स्कॉलर के रूप में शांति निकेतन से पच्चीस रुपये प्रतिमाह मिलते थे। एक वर्ष पश्चात् आजीविका

की टोह में अनेक जगह भटकना पड़ा। इसी बीच बम्बई आ गए और संस्कृत अध्यापन का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

सन् १९३८ में आपकी नियुक्ति राम नरायन रुइया कालेज माटुंगा में हुई, वहां अर्धमागधी एवं संस्कृत पढ़ाते थे। इसके पश्चात् इनके महाविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना हुई और वे हिन्दी प्राध्यापक सन् १९६८ तक रहे, जबकि उन्होंने हिन्दी में एम०ए० भी नहीं किया था। सन् १९४५ में समाजशास्त्र में, सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ० जी० एस० घुर्ये के कुशल मार्गदर्शन में, Life in Ancient India as depicted in Jain Canons जैसे अति गम्भीर विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त की। डॉ० जैन ऐसे पहले शोधकर्ता थे जिन्होंने जैन आगमों पर इतना मौलिक गवेषणात्मक अध्ययन किया था।

प्राकृत/अपभ्रंश-संस्कृत-शौरसेनी, हिन्दी बंगला, अंग्रेजी, डच, रूसी, चीनी, जर्मन भाषाओं पर उन्हें महारत हासिल थी। जर्मनी, ब्राजील, अर्जेण्टिना, चैकोस्लोवाकिया, रूस, अमेरिका देशों में उन्होंने भारतीय एवं जैन संस्कृति से लोगों को परिचित कराया। कील विश्वविद्यालय, जर्मनी, में चार वर्ष तक प्राकृत का अध्यापन कार्य किया।

डॉ० जैन की समीक्षा-दृष्टि बहुत ही सन्तुलित थी। पाश्चात्य तथा पौर्वात्य साहित्य-चिन्तन पर गहरी पकड़ उनकी विशेषता थी। **पाश्चात्य समीक्षा दर्शन** में जिन सिद्धान्तों का निरूपण उन्होंने किया है वह अभूतपूर्व हैं। डॉ० जैन की सक्रियता-मौलिकता उनके लेखन की पहचान है। इस प्रसंग में उनका विवादास्पद ग्रन्थ The Gandhi-Forgotten Mahatma उल्लेखनीय है। **प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्राकृत पुष्करणी, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, भ० महावीर, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियां, प्राचीन भारत की श्रेष्ठ कहानियां**, Prakrit Narrative Literature, Vasudeva-Hindi—An Authentic Version of the Brihad Katha, आदि अस्सी ग्रन्थों की रचना का श्रेय उनको है।

(शेष पृष्ठ १५१ पर)

प्राकृत भाषायें

–डॉ० ऋषभ चन्द्र जैन "फौजदार"

भाषा विचार संप्रेषण का साधन है। भाषा के बिना विचारों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य या प्राणी अपने मन में उद्भूत विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का उपयोग करता है। मनुष्य की भाषा मनुष्य के लिए बोधगम्य होती है, जबकि अन्य प्राणियों की ध्वन्यात्मक भाषा मनुष्य के लिये भले हो बोधगम्य न हो, किन्तु समान भाषा-भाषी एवं सजातीय वर्ग के प्राणियों के लिए वह अवश्य बोधगम्य होती है। भाषा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मनुष्य का। भाषा के जन्म के सन्दर्भ में पाणिनि ने कहा है कि "आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थ ग्रहण करके मन को बोलने के लिए प्ररित करती है। मन शरीर की अग्नि पर जोर डालता है, जिससे वह अग्नि रूपी शक्ति वायु को प्रेरित करती है। इसी प्रेरणा से शब्द/वाणी/का जन्म होता है।"

"प्राकृत" जनभाषा है, जिसका विकास जन सामान्य की बोली से हुआ है। प्राकृत की प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों में

(पृष्ठ १५० का शेष)

अपने अन्तिम समय में वे Studies in Early Jainism पर एक वृहद सीरीज तैयार कर रहे थे जो अप्रकाशित है। History and Development of Prakrit Literature प्रकाशन में है।

उनका निधन दि० २८ जुलाई, १९९४ ई०, को मुम्बई में हो गया। उनके सम्मान में मुम्बई नगर निगम ने उनके नाम से एक सड़क का नामकरण किया है तथा केन्द्र सरकार के डाक तार विभाग ने उनके नाम का डाक टिकट १९९८ में जारी किया था। इस डाक टिकट में पंचबालयति की खड्गासन् प्रतिमा उकेरित स्वर्ण मुद्रा तथा हड़प्पा की एक सील उनके फोटो के साथ दिखाई गई है। यदि डॉ० जैन की कृतियों का सही-सही मूल्यांकन किया जाए तो नई पीढ़ी को जैन साहित्य तथा संस्कृति को समझने में एक नई दिशा मिल सकेगी। ★

मत वैभिन्य है। एक वर्ग का मानना है कि प्राकृत का विकास संस्कृत से हुआ है। उनके अनुसार "प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं प्राकृत-मुच्यते" अर्थात् प्रकृति संस्कृत है और उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। इस वर्ग के विद्वान आचार्यों में **सिद्धहेमशब्दानुशासन** के कर्ता हेमचन्द्र, **प्राकृतसर्वस्व** के कर्ता मार्कण्डेय, **दशरूपक** के टीकाकार धनिक, **षड्भाषाचन्द्रिका** के कर्ता लक्ष्मीधर, **वाग्भट्टालंकार** के टीकाकार सिंहदेव गणि आदि हैं, जिन्होंने एक स्वर से प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को माना है।

दूसरे वर्ग के विद्वानों का मानना है कि संस्कृत से प्राकृत का विकास नहीं हुआ, बल्कि प्राकृत से संस्कृत का ही विकास हुआ है। इस सन्दर्भ में रुद्रट कृत **काव्यालंकार** के टीकाकार नमिसाधु का यह कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—"प्राकृतेति सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारःप्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।" अर्थात् संसार के समस्त लोगों का व्याकरणादि से रचित सहज वचन-व्यापार प्रकृति है, उससे उत्पन्न या वही प्राकृत है। वाक्पतिराज ने **गउडवहो** में प्राकृत को जनभाषा बताया है तथा उसे ही सब भाषाओं की जननी माना है। राजशेखर ने भी प्राकृत को संस्कृत की योनि कहा है।

ईसा पूर्व १६०० के लगभग जो जनभाषा प्रचलित थी, उससे वेदों की भाषा "छान्दस्" का विकास हुआ तथा कालान्तर में "छान्दस्" से ही लौकिक संस्कृत विकसित हुई। छान्दस् को ही प्राचीन भारतीय आर्यभाषा कहा गया है। एक ही मूल स्रोत से विकसित छान्दस् और लौकिक संस्कृत ये दोनो भाषायें साहित्यिक रूप धारण कर स्थिर हो गयीं, किन्तु भाषा का प्रवाह नदी के जल की भांति निरन्तर होता रहता है। छान्दस् से पहले की जनभाषा प्रवहमान रही, जिससे प्राकृत/प्राकृतों का विकास हुआ। इस प्राकृत के अनेक रूप/शब्द छान्दस् (**ऋग्वेद** और **अथर्ववेद**) में आज भी सुरक्षित हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों का मूल स्रोत तत्कालीन जनभाषा तथा छान्दस् ही हैं।

जहाँ एक ओर लौकिक संस्कृत नियमबद्ध होकर स्थिर हो गई, वहीं दूसरी ओर प्राकृत विभिन्न क्षेत्रीय जनभाषाओं के सहयोग से विकसित हुई और पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची आदि भौगोलिक नामों से साहित्यिक भाषा बन गई। इन प्राकृतों को जब व्याकरण के नियमों में बांधा गया, तब पुनः जन-भाषाओं के प्रवाह को रोका न जा सका जिससे अपभ्रंश/अपभ्रंशों का जन्म हुआ। कालान्तर में अपभ्रंशों को नियमबद्ध करने के प्रयत्न हुए, जिससे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं उत्पन्न हुईं, जिनमें हिन्दी, बंगाली, उड़िया, असमिया, भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, तेलगू, मलयालम आदि सम्मिलित हैं। इन भाषाओं से और किन-किन बोलियों/भाषाओं का विकास होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

प्राकृतों को मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा कहा जाता है। यहाँ उसके भेदों—पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पालि

पालि बौद्धग्रन्थों की भाषा है। गौतमबुद्ध ने इसे अपने उपदेश का माध्यम बनाया था। इसके नामकरण के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान् इसे मागधी से विकसित मानते हैं। मागधी और पैशाची प्राकृतों से पालि की पर्याप्त समानता है, उनकी कतिपय प्रवृत्तियाँ इसमें उपलब्ध होती हैं। पालि का छान्दस् के साथ पर्याप्त साम्य है। इसलिए इसे साहित्यिक प्राकृतों में सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता है। पालि में बौद्धों का विपुल साहित्य उपलब्ध है।

अर्धमागधी

अर्धमागधी को तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषा माना जाता है। इसी भाषा में श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्राचीन आचार्य प्रदेश के आधे भाग में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी बताते हैं। मागधी की कतिपय विशेषतायें पाये जाने

के कारण कुछ विद्वान् इसे अर्धमागधी कहते हैं तथा मार्कण्डेय शौरसेनी के निकट होने के कारण शौरसेनी को ही अर्धमागधी मानते हैं। निश्चय ही उपर्युक्त तीनों कथ्यों में सच्चाई मालूम पड़ती है, क्योंकि शौरसेनी और मागधी के क्षेत्र के बीच में बोली जाने वाली भाषा का अर्धमागधी नामकरण सार्थक ही है। अर्धमागधी को अठारह देशी भाषाओं से प्रसूत तथा सर्वभाषामयी भी बताया गया हैं। अर्धमागधी को (आर्ष) प्राकृत भी कहा जाता है। इस भाषा का गद्य और पद्य, दोनों विधाओं का साहित्य उपलब्ध है। अर्धमागधी की रूपसंरचना में मागधी और शौरसेनी का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। इसकी कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं—इसमें "क" के स्थान पर "ग" होता है, किन्तु कहीं त् और य् मिलते हैं। प् का व्, य् श्रुति भी देखी जाती है। प्रथमा एक वचन में "ए" तथा "ओ" पाये जाते हैं। किन्तु गद्य में "ए" तथा पद्य में "ओ" का बाहुल्य है। धातुरूपों के भूतकाल में "इंसु" प्रत्यय लगता है। कृदन्त में एक ही धातु के अनेक रूप देखे जाते हैं :—कृत्वा के कट्टु, किच्चा, कारिता, करित्ताणं आदि। अर्धमागधी में 'न' के स्थान पर 'ण' और 'न' दोनों मिलते हैं।

शौरसेनी

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन (मथुरा) की भाषा थी। जैन परम्परा (दिगम्बर) के **षट्खण्डागम सूत्र एवं कसायपाहुड प्रभृति** ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में ही लिखे गये हैं। इस भाषा का प्रचार-प्रसार पूर्व में कलिंग, पश्चिम में सौराष्ट्र तथा दक्षिण में कर्नाटक तक था। मध्यदेश तो इसका मूल स्थान ही था। यह दिगम्बर ग्रन्थों की मूल भाषा है और उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य की भाषा से प्राचीन है। जैन ग्रन्थों की शौरसेनी में कतिपय विशिष्टताएं पायी जाती हैं, जिससे इसे 'जैन शौरसेनी' कहा जाता है। नाटकों की शौरसेनी में जैन शौरसेनी की अपेक्षा पर्याप्त भिन्नता है। जैन शौरसेनी में त का द, क का ग, य श्रुति और प्रथमा एकवचन में ओ मिलते हैं। इसके कृ धातु के कुव्वदि, करेदि, कुणेदि, कुणइ, कुणदि तथा क्त्वा

के समतुल्य य, च्चा, इय, त्तु, दूण, ऊण, आदि प्रत्यय पाये जाते हैं। शौरसेनी में न का ण हो जाता है।

महाराष्ट्री

अनेक विद्वानों के अनुसार सामान्य प्राकृत का ही दूसरा नाम महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु इस नामकरण का मूल कारण उत्पत्ति स्थान ही है। महाराष्ट्र प्रदेश में जो प्राचीन प्राकृत प्रचलित थी, जिसे **लीलावई** के कर्ता कोऊहल ने मरहट्ट देशी भाषा कहा है, महाराष्ट्री प्राकृत है। मरहट्ट देशी भाषा से ही काव्यों और नाटकों में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ होगा। इसमें संस्कृत वर्णों के लोप की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। इस कारण यह ललित और मधुर है। सम्भवतः इसीलिए काव्यों और नाटकों में इसे सर्वाधिक स्थान मिला। जैन काव्य-ग्रन्थों और नाटक आदि इतर काव्य-ग्रन्थों की महाराष्ट्री में कुछ भिन्नता देखी जाती है। इसलिये कुछ विद्वान् 'जैन महाराष्ट्री' और 'महाराष्ट्री', इसके दो भेद स्वीकार करते हैं।

मागधी

मगध क्षेत्र की बोली को मागधी कहा जाता है। अन्य प्राकृतों की तरह इसका स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं है। केवल संस्कृत के नाटकों और शिलालेखों मैं इसका प्रयोग मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मागधी कोई निश्चित भाषा नहीं रही, बल्कि कई बोलियों का सम्मिश्रण इसमें रहा होगा। ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स और ष के स्थान पर श तथा अकारान्त प्रथमा एक वचन में ए, पुलिशे (पुरुष) आदि इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। मागधी का निश्चित क्षेत्र तय करना कठिन है, फिर भी विद्वानों ने इसे मगध देश की भाषा ही माना है। इसकी प्रकृति शौरसेनी को माना गया है। विद्वानों ने शकारी, चांडाली और शाबरी जैसी लोकभाषाओं को मागधी का ही भेद स्वीकार किया है।

पैशाची

पैशाची एक बहुत प्राचीन प्राकृत है। यह किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं थी, अपितु जाति विशेष की भाषा थी। यह जाति

कैकय, शूरसेन और पांचाल प्रदेशों में निवास करती होगी या भ्रमण करती रही होगी, जिससे इसका प्रचार भी इन्हीं प्रदेशों में रहा। (कदाचित यह भ्रमणशील जाति भारत में आधुनिक बंजारों और हंगरी में जिप्सी जातियों की पूर्वज रही हो।) चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी शिलालेख तथा **कुवलयमाला कहा** में इसकी विशेषतायें देखने को मिलती हैं। गुणाढ्य की **बृहत्कथा** पैशाची की प्रमुख रचना है, जो आज उपलब्ध नहीं है। पैशाची में अनादि तीसरे और चौथे वर्णों के स्थान पर उसी वर्ग के पहले और दूसरे वर्ण हो जाते हैं—गकनं = गगनम्, मेखो = मेघः, राचा = राजा। ज्ञ और न्य को ञ्ञ, ण को न, क्रियाओं में दि और दे के स्थान पर ति और ते, क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तून और त्थून पैशाची की प्रमुख विशेषताएं हैं। वाग्भट्ट ने पैशाची को भूतभाषा कहा है। उनके अनुसार यह पिशाच जाति के लोगों की भाषा थी। कुछ विद्वानों ने चूलिका पैशाची को पैशाची का ही भेद माना है, जबकि कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र भाषा मानते हैं।

अपभ्रंश

जब विभिन्न प्राकृतें साहित्यारूढ़ हो गईं, तब जनभाषारूप उन्हीं प्राकृतों से एक अन्य भाषा का जन्म हुआ, जिसे भाषाशास्त्रियों एवं विद्वानों ने अपभ्रंश नाम दिया। यह अपभ्रंश भी विभिन्न क्षेत्रीय या भौगोलिक कारणों से अनेक नामों से अभिहित की गई। कुछ लोगों ने संस्कृत से च्युत भाषा को अपभ्रंश कहा तो कुछ ने आभीर जाति के लोगों की भाषा को अपभ्रंश बताया। अधिकांश विद्वानों और स्वयं अपभ्रंश के कवियों ने इसे देशभाषा ही माना है, जो सर्वथा उपयुक्त है। सामान्यतया अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी ये दो भेद किये गये हैं। विद्वान् पूर्वी अपभ्रंश को मागधी से तथा पश्चिमी अपभ्रंश को शौरसेनी और महाराष्ट्री से जोड़ते हैं। प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद गिनाये हैं—व्राचड, लाटी, वैदर्भी, उपनागर, नागर, बार्बर, आवंती, पंचाली, टाक्क, मालवी,

(शेष पृष्ठ १५७ पर)

जरा सोचिये

–जस्टिस एम० एल० जैन

[वयोवृद्ध पं० पद्मचन्द शास्त्री जैन जगत के जाने-माने विद्वान, प्रबुद्ध विचारक एवं चिन्तक हैं। **अनेकान्त** पत्रिका के 'जरा सोचिए' स्तम्भ के अन्तर्गत वे लम्बे समय से धार्मिक-सामाजिक महत्व के विभिन्न विषयों पर अपने उत्प्रेरक विचार प्रस्तुत कर समाज को झकझोरते रहे हैं। गत वर्ष वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, ने इस स्तम्भ के अन्तर्गत लिखे गये पंडित जी के ७० आलेखों का एक संकलन इसी शीर्षक से प्रकाशित किया था। हमने **शोधादर्श**-३६ में 'साहित्य सत्कार' स्तम्भ के अन्तर्गत पृष्ठ ३२०-३२१ पर इस पुस्तक का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया है। प्रस्तुत आलेख में प्रबुद्ध चिन्तक एवं विचारक जस्टिस एम० एल० जैन इनमें से कतिपय विशेष महत्व के मुद्दों पर पंडित जी के विचारों की समीक्षा

(पृष्ठ १५६ का शेष)

कैकेयी, गौड़ी, कौन्तेली, औद्री, पाश्चात्या, पाण्डया, कौन्तली, सैंहली, कलिंगी, प्राच्या, कार्शाटी, कांची, द्राविडी, गौर्जरी, आभीरी, मध्यदेशीया एवं वैतालिकी।

उकार बहुलता अपभ्रंश की प्रमुख विशेषता है। इसमें लिंग-भेद प्राय: समाप्त हो गया। आत्मने पद का प्रयोग भी दिखलाई नहीं पड़ता। क्त्वा प्रत्यय के रूप—कृ धातु के साथ कर + इउ = करिउ, कर + इवि = करिवि, कर + एप्पि = करेप्पि, कर + एविण = करेविणु आदि दृष्टव्य हैं।

अपभ्रंशों और समकालीन जनभाषाओं से ही विभिन्न आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म हुआ। आधुनिक आर्यभाषाओं के नामों की झलक हमें अपभ्रंशों के नामों में ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिए अपभ्रंश को मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी माना गया है। ★

करते हुए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं, जो इन गम्भीर विषयों पर और चिन्तन किये जाने की प्रेरणा देते हैं।

—अजित प्रसाद जैन, प्र० सं०]

पं० पद्मचन्द जी शास्त्री ने यह सवाल उठाया है कि क्या दिव्य ध्वनि स्याद्वाद रूप है ? **उनका विचार है कि केवली सर्वज्ञ कुछ क्रिया नहीं करते। उनको जो भी क्रियायें होती हैं वे प्रकृति व प्रदेश बन्ध के कारण नहीं, स्वयं ही नियम से होती हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में सर्वकालीन समस्त पर्याय युगपद् झलकती हैं और सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि में स्याद्वाद को कोई स्थान नही है तथा जिसे हम विविध नय कल्लोल विमला स्याद्वादमय जिनवाणी कहते हैं वह गणधरों द्वारा गुम्फित है।**

हम शास्त्रों को जिनवाणी ही मानते हैं और सम्यक् दर्शन के लिए यह श्रद्धा अत्यावश्यक है। दरअसल पण्डित जी के सवाल में ही जवाब भी निहित है। जब सर्वज्ञों के ज्ञान में समस्त पर्यायों के साथ समस्त पदार्थ (तत्त्वार्थ) युगपद् झलकते हैं तो संशय-समाधान तर्क-वितर्क, सत्य-असत्य सब एक साथ दर्पणायत होते हैं। ऐसा मानने पर ही कहा जा सकता है कि केवलज्ञानी सर्वज्ञ हैं। चूंकि विहार और धर्म देशना उनके द्वारा उनके अनचाहे पर भी होता ही है और अपने ज्ञान को सर्वज्ञ गणधरों पर और गणधर जन साधारण के मध्य प्रकट करते ही हैं तो फिर अनेकान्त स्याद्वाद की भाषा में ही प्रकट कर सकते हैं। यह मानना है कि जगह-जगह विहार और धर्म देशना करते समय केवली इस बात का ध्यान नहीं रखते कि उनकी बात किसी के समझ में आती भी है या नहीं। वे ऐसी ध्वनि का प्रयोग करते हैं जिसे कहते हैं देवता श्रोतानुकूल भाषा में परिवर्तित करते हैं जिसके द्वारा पदार्थ पर्यायों का युगपद् दर्शन वे जन साधारण तो क्या तिर्यंचों पर भी प्रकट करने में समर्थ होते हैं। यदि केवली अपने इस अद्भुत ज्ञान को हमारे तक पहुंचाएंगे और पहुंचाना यह नियम है, तो फिर उसको वे भला और किस तरह सम्प्रेषण करेंगे ?

पण्डित जी शंकाओं की इस कड़ी में मोक्ष को अनादि बतलाते है।

मेरा अपना खयाल है कि जीव विशेष के सन्दर्भ में मोक्ष नहीं, कर्म-बन्ध अनादि हैं। अनन्त जीव अनादि काल से मोक्ष जाते रहे है, जायेंगे—इस दृष्टि से मोक्ष अनादि है, अनन्त है, वर्ना किसी जीव विशेष की मुक्ति तो कर्मान्त है—अनन्त में विलय है। चूंकि कर्म-बन्ध अनादि हैं इसलिये मिथ्यात्व को अनादि कह सकते हैं, किन्तु व्यक्ति विशेष के मिथ्यात्व का भी अन्त है।

यह सही है कि मिथ्या को मानने वालों को मिथ्यादृष्टि कहना आगम सम्मत है, परन्तु **मिथ्या का अर्थ झूठ या धोखा नहीं है**—यह अपशब्द तब बनता है जब इसमें दुराग्रह व तिरस्कार का भाव हो—या कषाय का, हिंसा का भाव हो। हम जैन दर्शन के प्रसंग में मिथ्यात्व, मिथ्या-दृष्टि का अमूमन ठीक-ठीक अर्थ नहीं लगाते। **मिथ्यात्व का अर्थ जैन शासन के अनुसार एकान्त का आग्रह है।** यदि एकान्त को हम असत्य, झूठा या माया कहेंगे, तो अनेकान्त और स्याद्वाद की सिद्धि नहीं होगी—अस्ति, नास्ति और अव्यक्तता केवल भ्रम उत्पादक शब्दावली बन कर रह जायेगी।

पण्डित जी ने इन लेखों में इस बात पर अधिक जोर दिया है कि जैन संस्कृति का मूल अपरिग्रह है और इसी विषय को लेकर उन्होंने यह विचार कई जगह प्रकट किये हैं कि जैन मुनियों को अपरिग्रही होना चाहिए, वे कई प्रकार से परिग्रही हो रहे हैं और श्रावक इसमें सहायक होकर अनगार चारित्र्य में शिथिलता पैदा कर रहे हैं।

पूज्यपाद के अनुसार कर्मों के ग्रहण में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक् चरित्र कहते हैं। आचार्य का मतलब शुभ तथा पुण्य कर्मों के ग्रहण में निमित्तभूत क्रिया के त्याग से नहीं है। ऐसी सूरत में धार्मिक कार्यों के लिए श्रावकों को प्रेरित करना अतिचार नहीं है। जैन धर्म के मूल में हैं—आत्मा, कर्म और अहिंसा। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, अचौर्य ये चारों व्रत मुख्य मूल व्रत अहिंसा की ही

शाखायें हैं, अहिंसा का व्यावहारिक निरूपण हैं। अहिंसा का अर्थ है कषाय का त्याग। सर्वज्ञ तीर्थंकर अनगार मार्ग के आदर्श हैं, किन्तु उनके भी चारों ओर देव रचित, यद्यपि अयाचित और अलिप्त, परिग्रह रहता ही है। यही कारण है कि जैन दर्शन भावों पर बहुत जोर देता है और यदि अहिंसा का भाव न हो तो दिगम्बरत्व भी एक परिग्रह मात्र ही तो है।

एक और सवाल का जिक्र किया गया है जैन शास्त्रों में वर्णित लोक रचना को लेकर। पण्डित जी की इस बात से मैं सहमत हूं कि यदि पाप-पुण्य का अपकर्ष-उत्कर्ष और कर्मों के फल को मानेंगे तो अधोलोक, मध्य लोक व ऊर्ध्व लोक को माने बिना कोई चारा नही है। बाबू सुखमाल चन्द जी ने **शोधादर्श-३४,** (पृष्ठ ५६-६३) में इस विषय पर सुन्दर तरीके से बिचार किया है। उनका आशय है कि लोक रचना का वर्णन एक रूपक के तौर पर है। **स्वर्ग-नर्क व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान व पतन के सोपान हैं उसी तरह जिस तरह गुणस्थान हैं।** नैतिक और आध्यात्मिक अवनति दिखाते हैं सातों नर्क, मानो वे नीचता, पाप व पतन के क्रमिक धरातल हों। इसी प्रकार १६ स्वर्गों का मतलब है—आत्मोन्नति के उत्तरोत्तर बढ़ते कदम।

स्वर्गों की कल्पना बड़ी ही दिलचस्प व चक्षु-उन्मीलक है। देवलोक में हैं १० भवनवासी, ८ व्यन्तर, ५ ज्योतिष्क, १६ वैमानिक तथा २३ कल्पतीत देव। इनमें से वैमानिक देवों के रहने के स्थानों को स्वर्ग कहते है अर्थात् सौधर्म से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक स्वर्ग। **जो व्यक्ति सम्यक् दृष्टि हैं वह सौधर्म अवस्था में हैं और जो व्यक्ति ख्याति लाभ के लिये धर्म का आचरण करते हैं, उनकी आत्मा की अवस्था असुर कुमारों की अवस्था है।** पांचवें स्वर्ग में लौकान्तिक देव धर्म-ध्यान में निमग्न रहते हैं—अतः आत्मा की इस अवस्था का नाम दिया गया ब्रह्मस्वर्ग—ब्रह्म याने आत्मा। आत्मा इस अवस्था को पहुंचे जहां फिर च्युति याने पतन का खतरा नहीं वह अवस्था है अच्युत स्वर्ग और आत्मा के मोक्ष का अन्तिम पड़ाव है सर्वार्थ-

सिद्धि। स्वर्ग तो प्रवृत्ति से विश्राम के स्थान हैं जब कि नर्क अनैतिक प्रवृत्ति की भूमियां हैं, बड़ा सही है।

तीन लोक की रचना के विषय में कहते भी हैं कि यह व्याख्या मानव शरीर की आकृति के अनुसार है, मानों कोई मानव पांव फैलाकर कमर पर दोनों हाथ रखे खड़ा है। यह उपमा भी यही साबित करती है कि लोक रचना में भौतिक व आध्यात्मिक तत्त्व शामिल हैं।

भौतिक रचना के सिलसिले में उनके क्षेत्रफल और निवासियों के जीवन का जो विशद वर्णन किया गया है, इसके सम्बन्ध में यह सवाल उठाया जाता है कि क्या ये सर्वज्ञ द्वारा बताए गये हैं या आचार्यों की कल्पना मात्र ही हैं, क्योंकि विज्ञान की खोज इनका समर्थन नहीं करती। जैनेतर भारतीय दर्शन में नर्क और स्वर्ग का इस प्रकार का श्रेणीबद्ध वर्णन नहीं है अलबत्ता इस्लाम व यहूदी सात स्वर्ग मानते हैं। अब तक भौतिक विज्ञान ने जो कुछ थोड़ी बहुत खोज की है वह कुछ अकृत्रिम दिव्य ज्योतियों के बारे में ही है; उस खोज में अवश्य इतने स्वर्ग-नर्क नहीं दिखाई दिये हों, परन्तु इस अनादि अनन्त सृष्टि में खोज भी तो अनन्त है और निश्चयपूर्वक कोई वैज्ञानिक नहीं कह सकता कि ये देव-नर्क भूमियां आज, जैसी जैन शास्त्र बताते हैं, हैं ही नहीं। भौतिकी के वैज्ञानिक लोक-रचना की खोज में लगे हैं, उनके नतीजे जो आ रहे हैं, उनसे तो मुझे लगता है कि अनन्त भविष्य में एक दिन यह साबित होने की संभावना भी है कि जैन भौतिकी गलत नहीं है। इसलिये आज इनको सर्वज्ञ दर्शित मानकर चलने में कोई आपत्ति मुझे नजर नहीं आती।

पण्डित जी को यह ठीक नहीं लगता कि आज कल मन्दिरों में शास्त्रों के साथ-साथ आधुनिक विद्वानों के विचारों से भरी पुस्तकें, पत्रिकायें, अभिनन्दन ग्रंथ, स्मारिकायें भी संग्रहीत होती हैं और निश्चय ही स्वयं स्वाध्याय करने वाले लोग इनको पढ़ते हैं क्योंकि संस्कृत, प्राकृत और देशी भाषाओं का ज्ञान होना और उसमें आनन्द

(शेष पृष्ठ १६२ पर)

वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता

—श्री धर्मेन्द्र मोहन सिन्हा

अस्पृश्यता सरीखे घोर अभिशाप से भारतवर्ष के अनेक महान विचारकों, समाजसेवियों व न्याय-वेत्ताओं का अन्तर्मन अनेक वर्षों से व्यथित होता रहा हैं। कई भ्रमपूर्ण मान्यताओं के कारण वर्ण-व्यवस्था को जातिवाद से घुला-मिलाकर देश के सामाजिक तन्त्र को जर्जर करने की प्रवृत्ति ने जीवन की जड़ें हिलाकर रख दी हैं। अत्यन्त शोचनीय स्थिति यह है कि अस्पृश्यता के कुत्सित विचार का आधार भारतीय आध्यात्मिक दर्शन को समझा जाता रहा है। इस विडम्बना का निराकरण सभी विचारशील भारतीयों को अभीष्ट अवश्य होगा।

यदि हम **श्रीमद्भागवत पुराण** के एकादश स्कन्ध के १७वें अध्याय का अवलोकन करें तो भयंकर भूल का निराकरण एकदम

(पृष्ठ १६१ का शेष)

लेना हरेक के बस की बात नहीं है। इसका नतीजा यह होता है कि आगम शास्त्रों के स्वाध्याय में रुचि घटती जाती है और यह स्थिति खेदकारी है।

इसका हल इस तरह हो सकता है कि मन्दिरों में ही आगम शास्त्र अलग रखे, पूजे, व पढ़े जायें और अन्य सामग्री अलग से रखी जाये ताकि वह भी पढ़ी जाये। दोनों को एक साथ रखने से यह सम्भव है कि ये सब आगम ग्रंथ ही समझ लिये जायें जब कि कई पुस्तकें सामयिक होती हैं, सामायिकी नहीं। मेरे अपने विचार से मूल आगम शास्त्रों का अध्ययन हो और उनके ऊपर विभिन्न लेखकों के विचार भी पढ़े जायें, इससे दिमाग में सोंचने-समझने शंका-समाधान करने से जिनवाणी में श्रद्धा बढ़ेगी। देखा जाये तो स्वाध्याय का मतलब शास्त्र पढ़ना-सुनना मात्र ही नहीं है। स्व का अध्ययन ही असली है याने स्वाध्याय, याने आत्म-चिन्तन। ★

हो सकता है। इस अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में उद्धव जी भगवान श्रीकृष्ण से कहते हैं—

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ।। १ ।।
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणाम् भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत् समाख्यातुमर्हसि ।। २ ।।

अर्थात्, "कमलनयन श्री कृष्ण ! आपने पहले वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वालों के लिए और सामान्यतः मनुष्यमात्र के लिये उस धर्म का उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकार से अपने धर्म का अनुष्ठान करें, जिससे आपके चरणों में उसे भक्ति प्राप्त हो जाये।"

इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि वर्ण और आश्रम व्यवस्था का महत्त्व उन मनुष्यों के लिये ही है जो मनुष्य जीवन के परम और चरम लक्ष्य भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकार ही उस मनुष्य को है जो भक्ति की साधना में श्रद्धा रखता है और इसके लिये तत्पर है। भक्ति में मनुष्यमात्र का अधिकार है, और अधिकार ही नहीं वरन् कल्याण के लिए मनुष्य का यह एक मात्र अनिवार्य धर्म और कर्त्तव्य भी है। भक्ति की प्राप्ति का साधन कोई भी हो सकता है—कर्मयोग, ज्ञान-योग अथवा भक्तियोग। इसमें धन-सम्पत्ति, ज्ञान, सामाजिक स्तर, स्वास्थ्य, पद-प्रतिष्ठा, शिक्षा आदि किसी की कोई कैद नहीं है। इसीलिए उपरोक्त श्लोकों में "सर्वेषां द्विपदाम्" शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु कालचक्र ने मनुष्यों का ध्यान अनिवार्य मानव-धर्म की ओर से हटा कर उन उपलब्धियों की ओर कर दिया है जिससे मानव जीवन पतनोन्मुख होकर दानव अथवा पाशविक जीवन में परिवर्तित हो जाता है। आज के मानव समाज में व्याप्त धन व पद-लोलुपता उसका भीषण परिणाम है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं है वरन् प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए

कल्याण व्यवस्था है। हर व्यक्ति को यह जानना अनिवार्य है कि जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसे उपरोक्त साधनों में से कौन सा साधन अपनाना सुविधापूर्ण है और उस साधन के लिए उसका स्वभाव और सामर्थ्य उपयुक्त है या नहीं। साथ ही, शरीर निर्वाह के लिये वह किस रूप में समाज की सेवा के लिए सक्षम है। इसके लिये ही वर्ण और आश्रम की व्यवस्था पर इतना बल दिया गया है।

उद्धव के प्रश्नों के उत्तर में भगवान इसी अध्याय के श्लोक ९ में कहते हैं—

धर्म्य एव तव प्रश्नो निःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥

(प्रिय उद्धव! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रम धर्मी मनुष्यों को परमकल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः मैं तुम्हें उन धर्मों का उपदेश करता हूँ, सवधान होकर सुनो।)

इस से यह भली भांति स्पष्ट है कि वर्णाश्रम का विचार करने से प्रत्येक मनुष्य परमकल्याण रूप मोक्ष (निःश्रेयस) की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। इसमें धन, प्रतिष्ठा आदि का स्थान नहीं है। यह अवश्य है कि इसके अनुसार धर्म पालन से सांसारिक सुविधायें अनायास ही प्राप्त भी होती हैं जैसा गोस्वामी तुलसीदास ने **रामचरित मानस** में कहा है:—

जिमि सरिता सागर महुं जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये। धरमशील पहिं जाहिं सुभाएं॥

परन्तु सांसारिक सुविधा-सम्पत्ति प्राप्त करना मनुष्य जीवन का न लक्ष्य है, न प्राप्तव्य। उल्टे उनके प्रति भोगवृत्ति रखने से मनुष्य जीवन का पतन ही होता है। वे समाज सेवा के लिए साधन-सामग्री ही हो सकते हैं। वास्तव में परहित साधन ही धर्म का मूल है, न कि स्वार्थ-साधन। गोस्वमी जी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहीं अधमाई॥

सभी वर्णों का आधार सेवा है। जिस प्रकार शरीर का आधार चरण है उसी प्रकार सेवा ही वर्ण का आधार है। कोई

व्यक्ति यदि किसी भी वर्ण का लक्षण धारण कर परहित के लिए उसका सदुपयोग नहीं करता तो वह तो उस भारवाही पशु के समान ही है जिसकी पीठ पर बहुमूल्य सामगी लदी हो पर जो उसके सदुपयोग से वंचित है। इसी अध्याय के श्लोक सं० १६, १७, १८ व १९ में विभिन्न वर्णों के स्वभाव दिये गये हैं—

ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव - शम, दम, तपस्या, पवित्रता, संतोष, क्षमाशीलता, सीधापन, भक्ति, दया और सत्य ।। १६ ।।

क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव - तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण भक्ति और ऐश्वर्य ।।१७।।

वैश्य वर्ण के स्वभाव - आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा करना और धन संचय से सन्तुष्ट न होना । ।।१८।।

शूद्रवर्ण के स्वभाव - ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसी से जो कुछ मिल जाये, उसमें सन्तुष्ट रहना ।।१९।।

विभिन्न वर्णों के इन्हीं स्वभावों का वर्णन **श्रीमद्भागवद्गीता** के १८वें अध्याय के श्लोक सं० ४२, ४३ व ४४ में प्रकारान्तर से दिया गया है। इन स्वभावों को धारण कर उनका सदुपयोग करना प्रत्येक मोक्षकामी पुरुष का कर्त्तव्य हैं। जो इन स्वभावों से युक्त नहीं होते उनके लिये **श्रीमद्भागवत** के ११वें स्कन्ध के १७वें अध्याय में निम्नांकित श्लोक दिया है जो पठनीय व मननीय है—

अशौचमनृतं, स्तेयं, नास्तिक्यं, शुष्क विग्रहः ।
कामः क्रोधश्च, तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ।।२०।।

अर्थात्, अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर व परलोक की परवाह न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णा के वश में रहना—ये अन्त्यजों के स्वभाव हैं।

श्रीमद्भागवत् के इन श्लोकों में कहीं भी परिवारगत या जन्मगत लक्षणों का उल्लेख नहीं है, न ही ये लक्षण किसी परिवार, वर्ग या समूह के हो सकते हैं। यह तो सम्भव है कि इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति किसी विशेष कार्य के लिए कोई विशेष समूह बना लें

परन्तु वह कार्य होगा मोक्ष सम्पादन के लिये ही, न कि विषय भोग हेतु। अतः किसी भी वर्ण के व्यक्ति के परिवार में उत्पन्न बालक को उक्त वर्ण के स्वभाव से सहायता तो मिल सकती है जो वयस्क होने पर उसके लिये मोक्ष साधन में सहायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु यह कदापि अनिवार्य नहीं हो सकता कि वह उसी वर्ण धर्म को धारण भी करे।

इस विषय में अस्पृश्यता का उल्लेख करना भी आवश्यक है। धर्म-ग्रन्थों में अनेक प्रसंग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें भक्तगण अपने स्वाभाविक दैन्य भाव से अभिभूत होकर अपनी त्रुटियों के लिये अपने को ही उत्तरदायी कहते हैं। अपने उज्जवलतम भक्ति भाव के उद्रेक से अभिभूत भक्तजन किसी अवगुण की क्षीणतम रेखा से भयभीत होकर अपने को "अस्पृश्य" तक की संज्ञा देने में नहीं हिचकते। यह तो उनके भक्तिभाव की पराकाष्ठा है। परन्तु अपने से किसी अन्य का कोई अवगुण वर्णन करने से परनिन्दा का महान पाप होता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

परनिन्दा सम अघ न गरीसा।

अतः धर्म-ग्रन्थों का यह तात्पर्य कभी नहीं हो सकता कि किसी भी व्यक्ति, वर्ग, परिवार को किसी भी प्रकार अस्पृश्य कहा जाए। परन्तु स्वयं अपने दोषों को देखने से मनुष्य अपने कल्याण के सम्पादन में लग जाता है।

[उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सनातन हिन्दू धर्म में भी जन्मगत वर्ण-व्यवस्था का कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है। भारतीय संस्कृति के अन्य विचारक मनीषियों ने तो इसका विरोध किया ही है। २५०० वर्ष पहले बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान गौतम बुद्ध ने जन्मगत वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया था और उनका एक प्रमुख शिष्य उपालि जन्म से नापित था। जैन धर्म के अन्तिम २४वें तीर्थंकर भगवान वर्धमान महावीर ने दार्शनिक धरातल पर, कर्म सिद्धान्त के आधार पर, इस व्यवस्था का विरोध किया था। उनका उपदेश था—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।

अर्थात्, अपने कर्म (आचरण, कार्यों) से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है—जन्म से नहीं ।

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतिकारों ने जो व्यवस्था दी और एक वर्ण विशेष (ब्राह्मण) द्वारा जो उसका अनुपालन सुनिश्चित किया गया, उससे विगत २००० वर्षों में जन्मगत वर्ण व्यवस्था रुढ़ हुई जिसके भयंकर सामाजिक और राजनैतिक परिणाम भारत को भुगतने पड़े । पुराणों का सृजन भी इसी काल में हुआ और इसीलिये **श्रीमद्भागवत्** में भी अन्य ३ वर्णों के लिये ब्राह्मण भक्ति व सेवा का विधान कर दिया गया । भवभूति के **उत्तर राम चरित** (७वीं शती ई०) के अनुसार ऋषि गोमांस की अभीप्सा करते थे, अतः गौ की अवध्यता उसके बाद की है और ८वीं से लेकर १२वीं शती तक (और उसके बाद भी) मुसलमान आक्रमणकारियों ने ब्राह्मणों को जजिया से माफी देकर और उनके प्रमाण पर गौ को ढाल बनाकर बहुत बार भारतीय सेनाओं पर विजय प्राप्त की । गौ को देवता बना देने की साजिश में ब्राह्मण जातिगत वर्ण को श्रेय जाता है और धर्म-ग्रन्थों में, जिनके कस्टोडियन वही थे, ये क्षेपक बाद को जोड़े गये, इसकी प्रबल आशंका है ।

यद्यपि विगत १५० वर्षों में इस सम्बन्ध में चेतना जागृत हुई, अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध बना दिया गया, जन्मगत वर्ण के बावजूद सभी क्षेत्रों में लोग जाने लगे—वैश्य सेना में, ब्राह्मण व्यापार में और सेवा में, क्षत्रिय अध्यापन और व्यापार में, शूद्र प्रशासनिक पदों पर—और खान-पान, रहन-सहन तथा सामाजिक सम्पर्क में प्रत्यक्षतः अलगाव प्रायः समाप्त हो गया; तथापि २१वीं शती में प्रवेश पर अभी भी रुढ़िवादी धर्मगुरु जन्मगत वर्ण व्यवस्था का पोषण करने और शूद्रों (पिछड़ों और अस्पृश्यों) के विरुद्ध

(शेष पृष्ठ १६८ पर)

समाज दर्शन

—डॉ० शशि कान्त

लखनऊ के पण्डित अजित प्रसाद (१८७४-१९५१), एम०ए०, एल-एल०बी०, एडवोकेट, इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक प्रबुद्ध जैन विचारक, विद्वान, समाज सुधारक एवं प्रतिष्ठित समाज नेता थे। आल इण्डिया जैन यन्गमैन्स एसोसियेशन और अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद के संस्थापकों में थे और १९५१ में अपनी मृत्यु पर्यन्त अंग्रेजी Jaina Gazette के सम्पादक रहे।

उनके दिनांक १४-९-१९३८ और ११-६-१९४६ को बा० छोटे लाल जैन, कलकत्ता, को लिखे गये पत्रों के सुसंगत अंश नीचे दिये जा रहे हैं जो उस समय की दिगम्बर जैन समाज की दशा का दिग्दर्शन कराते हैं। ये पत्र हमें कलकत्ता के श्री कैलाश चन्द जैन के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं।

१४-९-१९३८ : "समाज की परस्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है और मजबूरन हट कर एकान्तवास ही ठीक नजर आता है। पण्डिताई, प्रचारकी के पेशे-वालों ने जिन धर्म और जैन समाज को अत्यन्त आघात पहुंचाया है, और पहुंचा रहे हैं और यह भीष्म रोग बढ़ता जा रहा है। सुधार का मार्ग नज़र नहीं आता।"

११-६-१९४६ : "समाज की दशा दिन-दिन बिगड़ती जा रही है। वीर शासन जयन्ती के समय जो आशा उत्पन्न हो गई थी वह विलीन

(पृष्ठ १६७ का शेष)

विष वमन करने से नहीं हिचकते, यह एक खेद, लज्जा और सोच का विषय है जो समाज के प्रबुद्ध वर्ग के लिए एक चुनौती भी है। धर्म-ग्रन्थों का मात्र आध्यात्मिक निर्वचन ही यथेष्ट नहीं है वरन् अधिक आवश्यकता इस परीक्षण की भी है कि उनमें निहित स्वार्थों द्वारा अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए क्षेपक कब और कैसे प्रविष्ट कर दिये गये, और तदनुसार उनके कथ्य/विवेचन को परिमार्जित किया जाय। **—डा० शशि कान्त]**

हो गई। वीर शासन जयन्ती उत्सव मेरे जीवन में एक स्वप्न मात्र रह गया। लक्ष्मी बाई खण्डवा के सम्बन्ध में गजराज जी के नाम से ४ गुमनाम परचे निकल चुके हैं, जिसमें यह आक्षेप है कि लक्ष्मी ने उनसे विवाह कर लिया है। खबर तो मैंने यह पढ़ी थी; और जैन गजट अंग्रेजी में प्रकाशित भी की थी कि लक्ष्मी का विवाह एक युवक से ढाका में हो गया। क्या उसका शरीर शान्त हो गया, लक्ष्मी विधवा हो गई और उसने फिर से पुनर्विवाह कर लिया, बात क्या है? पता नहीं चलता। समाचार पत्र, गजराज जी, सेठ हुकुम चन्द आदि सब चुप हैं। बाबू निर्मल कुमार जी का भी कुछ हाल नहीं मालूम पड़ता, क्या कर रहे हैं? परिषद तो अब बन्द सी ही हो गई है; काम क्या हो रहा है?—पता नहीं। श्वेताम्बर समाज तेजी से काम कर रहा है। दिगम्बर समाज गिर रहा है। मैं चुप हूं।''

समाज की दशा से क्षुब्ध ख्यातिनामा डा० ज्योति प्रसाद जैन (१९१२-१९८८) ने भी जनवरी १९८२ में 'समाज के सामने चुनौती' लेखबद्ध किया था जो **शोधादर्श**-२६ (जुलाई १९९५) में पृ० १३५-१३७ पर प्रकाशित है और १९९५ तक अनवरत बिगड़ती स्थिति पर पृ० १३७-३८ पर हमने भी अपनी टिप्पणी दी थी।

आज स्थिति और भी विकृत होती जा रही है। **शोधादर्श** अपने सम्पादकीय अग्रलेखों और समाचार विमर्श के अन्तर्गत, तथा अन्यथा भी, इस ओर ध्यान आकर्षित करता रहता है। परन्तु इस सब का कोई प्रभाव पड़ता नहीं दीखता।

अब एक 'अहिंसा महाकुम्भ' का आयोजन १ जनवरी, २००० ई०, के लिए एक निष्परिग्रही वीतरागी दिगम्बर साधु के संयोजन में हो रहा है जिस पर करोड़ों रुपया समाज का व्यय होगा—केवल इस साधु को और उसकी गुरु परम्परा को महिमा मण्डित करने के लिए। एक बड़ी भव्य कीमती पत्रिका का प्रकाशन प्रचार हेतु प्रारंभ कर दिया गया है। भारतीय जैन मिलन जैसी सार्व-जैन संस्था भी उसके मोहपाश में आ गई है। और भी कितने ही साधु-साध्वियां

अपने नायकत्व में कहीं धन बटोरने के लिए रथ निकलवा रहे हैं, कहीं अपनी प्रभावना के लिए करोड़ों के मन्दिर-मठ-आश्रम एवं अन्य संस्थायें बनवा रहे हैं, तथा और भी जो-जो कुछ कर रहे हैं इसका निर्देश डा० मनोरमा जैन ने इसी अंक में प्रकाशित अपने लेख में किया है। उससे भी आगे, विद्वानों को खरीदने, चाटुकारों को बढ़ावा देने तथा आलोचना को दबा देने के लिये अपने स्वार्थ के लिये हिंसा—बल प्रयोग करने में भी कतिपय साधु नहीं हिचक रहे हैं।

इस स्थिति पर अपनी स्वानुभूत पीड़ा **तीर्थंकर वाणी** के संपादक डा० शेखर चन्द्र जैन ने अप्रैल १९९९ के संपादकीय में निम्नवत व्यक्त की है :

> "पिछले कुछ वर्षों से यह महसूस किया जा रहा है कि प्रचलित मान्यताओं, परम्पराओं में कुछ आमूल परिवर्तन हो। विशेषकर धर्म के नाम पर किये जा रहे निरर्थक अनुत्पादक खर्चे को रोका जाये। पुण्य और मुक्ति के स्वप्न दिखाकर बोलियों के नाम पर ऐंठे जाते धन की प्रक्रिया को रोका जाये। परन्तु, उस परिवर्तन का उद्घोष करने वाले थोड़े से पण्डित-विद्वान एवं कुछ तटस्थ पत्रकार ही हैं जिनकी आवाज लगभग कोई सुनने को तैयार नहीं। वैसे भी इस तथाकथित श्रीमन्त समाज में विद्वानों की स्थिति कुछ विशेष सम्मानपूर्ण नहीं।
>
> "आज हमारे आत्मार्थी साधू परमार्थी बन कर समाज के श्रीमन्तों को मोक्ष का सीधा मार्ग बताने और उनकी कृष्णा-स्वरूपा लक्ष्मी को धवलता में परिवर्तित करने में दत्तचित्त हैं। अपने-अपने नाम पर स्वयं या शिष्यों द्वारा विशाल मठ बनवा रहे हैं; जो करोड़ों रुपया ५ दिन के पंचकल्याणक के नाम पर सजावट वाले, हाथी वाले, लाइट वाले, गवैया पर लुटवाकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करवा रहे हैं; जिन्हें लक्ष्मी-लाल के दास विद्वानों का समर्थन प्राप्त है, जहाँ पाप का भय बता कर प्रतिष्ठाचार्य बेचारा मात्र ५१ हजार या एक

लाख की अल्प राशि झटक कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं; ऐसे माहौल में इन स्वतन्त्र दिमाग वालों की बात कौन सुनेगा ?

"अब तो बिहारी जमीदारों की तरह कुछ साधु भी अपनी छोटी भक्त सेना रखने लगे हैं। यदि कभी कोई सही बात कह दी जाये तो ये शिवगण मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं। उनका सामाजिक बहिष्कार कराया जाता है। (मुझे ऐसा कटु अनुभव श्रेष्ठतम साधु के नाम पर हुआ है। यद्यपि पता चला कि उन साधु जी को कुछ पता ही नहीं है। पर ऊपर के कथित भक्त अपने भगवान के नाम पर ही चर रहे हैं।)

ऊपर कोष्ठक में रेखांकित अंश के सम्बन्ध में हमें विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि उन महा-मुनि का एक टेप किया हुआ प्रवचन है जो प्रचारित किया गया और उस प्रवचन में जो उत्तेजनात्मक भाषा है उसी के आश्रय से उनके कतिपय भक्ति केन्द्रों पर भक्त श्रावक व साधुओं ने अहिंसा का उलट व्रत धारण किया।

आज की इस संकट की घड़ी में पूरे जैन समाज को एक जुट होकर **अहिंसा महाकुम्भ** जैसे आयोजनों पर अपव्यय न करके वह सब धन प्रधान मन्त्री के राष्ट्रीय सहायता कोष में देना चाहिये ताकि आक्रामक शत्रु से देश की रक्षा में मजबूती आये।

The Jain Declaration on Nature

—Dr. L. M. Singhvi

[The Declaration was presented to His Royal Highness Prince Philip, President of the World Wide Fund for Nature (WWF) International on the 23rd October 1990 at Buckingham Palace, London (U.K.). This was to mark the formal entry of the Jain faith into the Network on Conservation and Religion.]

The Jain tradition which enthroned the philosophy of ecological harmony and non-violence as its lodestar flourished for centuries side-by-side with other schools of thought in ancient India. It formed a vital part of the mainstream of ancient Indian life, contributing greatly to its philosophical, artistic and political heritage. During certain periods of Indian history, many ruling elites as well as large sections of the population were Jains, followers of the *Jinas* (Spiritual Victors).

The ecological philosophy of Jainism which flows from its spiritual quest has always been central to its ethics, aesthetics, art, literature, economics and politics. It is represented in all its glory by the 24 *Jinas* or *Tirthankaras* (Path-finders) of this era whose example and teachings have been its living legacy through the millenia.

Although the ten million Jains estimated to live in modern India constitute a tiny fraction of its population, the message and motifs of the Jain perspective, its reverence for life in all forms, its commitment to the progress of human civilization and to the preservation of the natural environment continues to have a profound and pervasive influence on Indian life and outlook.

In the twentieth century, the most vibrant and illustrious example of Jain influence was that of Mahatma Gandhi, acclaimed as the Father of the Nation. Gandhi's friend, Shrimad Rajchandra, was a Jain. The two great men corresponded, until Rajchandra's death, on issues of faith and ethics. The central Jain teaching of ahimsa (non-violence) was the guiding principle of Gandhi's civil disobedience in the cause of freedom and social equality. His ecological philosophy found apt expression in his observation that the greatest work of humanity could not match the smallest wonder of nature.

The five fundamental teachings of Jainism [Ahimsa (non-violence), Parasparopagraho jivanam (interdependence of life), Anekantavada (the doctrine of manifold aspects), Samyaktva (equanimity) and Jiva-daya (compassion, empathy and charity)] and the five-told Jain code of conduct [the five vratas (vows), kindness to animals, vegetarianism, self-restraint and the avoidance of waste, and charity] outlined in this Declaration are deeply rooted in its living ethos in unbroken continuity across the centuries. They offer the world today a time-tested anchor of moral imperatives and a viable route plan for humanity's common pilgrimage for holistic environmental protection, peace and harmony in the universe.

मैं कगार पर खड़ा

—डा० शशि कान्त

मैं कगार पर खड़ा
हाथ में चिराग लिये
पुकारता—
कोई तो थाम ले दिया !

वक्त गुजर रहा
सब कुछ वही
न कुछ बदल रहा
न कुछ संवर रहा ।
मैं कगार पर खड़ा.........

इन्सान बंधा हुआ
कह रहा—
अहंकार छोड़ो
पर मुझे मत छेड़ो ।
मैं कगार पर खड़ा.........

मजहब वही जो बांट दे
राजनीति वही जो नोट दे
अर्थनीति वह नहीं
जो स्वाभिमान स्वाधीनता दे ।
मैं कगार पर खड़ा.........

आज का एक अध्यवसाय
चोरी करो
और अकड़ के चलो
पकड़ गये भी, तो निकल चलो ।
मैं कगार पर खड़ा.........

इतिहास की सीख व्यर्थ
सन्यास कर रहा अनर्थ
उन्माद है, त्याग अकारथ
स्वार्थ है, परमार्थ नदारद ।
मैं कगार पर खड़ा.........

★

(पृष्ठ १४२ का शेष)

"प्रतिष्ठा पात्रों के चयन में आयोजकों की दृष्टि अब केवल इस बात पर रहती है कि कौन कितना पैसा खर्च कर सकता है। धन को महिमा मण्डित करने से गुणों की उपेक्षा हुई है और इससे प्रतिष्ठाओं की गरिमा में निरन्तर गिरावट आती जा रही है।...... आज पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के बाद भी मन्दिरों में राज-मजदूरों की कन्नी-बसूलियां महीनों बाद तक चलती रहती हैं जिससे प्रतिष्ठित मूर्ति का अविनय ही होता है। अपूर्ण मन्दिर को पूर्ण करने के लिए प्रतिष्ठा के माध्यम से धन इकट्ठा किया जाता है। इस प्रकार ये प्रतिष्ठाएं धन अर्जन करने की फैक्टरियां बन कर रह गई हैं।

"मूर्तियों को मन्त्रों संस्कारों से ही पूज्य व प्रतिष्ठित किया जाता है तथा संस्कारारोपण की सम्पूर्ण क्रियायें सभी मूर्तियों पर अलग-अलग किये जाने का विधान है। किन्तु आजकल मंचीय कार्यक्रमों—बोलियों, नाटक, नृत्य, प्रहसन, संगीत, आदि को ही पूरा महत्व दिये जाने के कारण संस्कारारोपण के नाम पर कहीं-कहीं खाना पूरी ही की जाने लगी है। (वैसे भी जब प्रतिष्ठित की जाने वाली मूर्तियों की संख्या ७५०-८०० होगी तो खाना पूरी तो होनी ही है।—सं०)

"इन्द्र-इन्द्राणियों का अपने पूजा स्थल से, जब चाहा तब, उठ कर नाचने लगना, नृत्य के नाम पर डिस्को टाइप उछल-कूद करना अटपटा लगता है। इसकी भी कोई सीमा होनी चाहिये। रात्रिकालीन सांस्कृतिक कार्यक्रमों में साधु वृन्द एवं आर्यिकाएं एक-एक या दो-दो बजे तक मंच पर तख्तासीन बैठे देखे जाते हैं जबकि परम्परा तो यह है कि साधु जन प्राय: दीक्षा कल्याणक के दिन से ही मंच पर आते थे। गज यात्रा के दौरान इन्द्रादिकों को पल-पल पर बोतल से पानी पीते, यहां तक कि पान मसाला सेवन करते भी, देखा गया है जबकि वे एकासन-उपवासरत समझे जाते हैं। यह उपहासास्पद लगता है।"

अन्त में प्राचार्य जी ने सुझाव दिये हैं कि पंचकल्याणक के पात्रों की योग्यता एवं अर्थ की विशुद्धि को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। बोलियों की भरमार से प्रतिष्ठा के कार्यक्रमों में रस भंग होता है अतः बोलियां कम से कम रखी जानी चाहियें तथा जिस भूमि पर प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न करने हों, उसका समुचित शोधन भी आवश्यक है क्योंकि भूमि का प्रभाव प्रतिष्ठा कार्यों पर पड़ता है।

दिशाबोध का यह प्रायः पूर्ण अंक इस पंच कल्याणक प्रतिष्ठा को ही समर्पित है। इसमें **अनेकान्त** से उसके यशस्वी सम्पादक वयोवृद्ध विद्वान पं० पद्मचन्द्र शास्त्री के एक लेख "मूर्ति निर्माण और प्रतिष्ठाएं" को भी उद्धृत करके छापा गया है जिसमें उन्होंने कटाक्ष करते हुए लिखा है कि "ऐसा संयोग भाग्य से ही मिलता है जिसमें जिनेन्द्र भगवान के पंच कल्याणक तो होते ही हैं—कराने वाले पंचो का भी लगे हाथ कल्याण हो जाता है, प्रतिष्ठा मिलती है सो अलग।" अग्नि काण्ड से घटित भीषण त्रासदी पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि "जिनधर्मानुयायियों के लिए **यह शर्म की बात है कि एक ओर अग्नि काण्ड में झुलसते कराहते साधर्मी बन्धु और दूसरी ओर आयोजकों की सभी कार्यक्रम पूर्ण करने की ललक।**......इतने बड़े आयोजन में यह खोजा जाना चाहिये कि कितने तीर्थ यात्रियों ने श्रावकोचित व्रतादि ग्रहण किये।...... जिन धर्म की प्रभावना का आधार हमेशा से ही आचरण रहा है और आज भी यदि जिन धर्म जीवन्त है तो आचरण के कारण ही। किन्तु आज सभी अपने आचरण से स्खलित हो रहे हैं अतः आडम्बर और प्रदर्शन का आश्रय लिया जा रहा है ताकि अपनी-अपनी कमियों को छिपाया जा सके। **आज अहिंसा परमो धर्मः के स्थान पर आचारो परमो धर्मः को प्रतिष्ठापित करने का समय आ गया है।**"

श्री मूलचन्द जैन ने अपने लेख "पांच कल्याण : किस-किस का ?" में बताया है कि पंच कल्याणक प्रतिष्ठा से विशेष रूप से लाभान्वित होने वाले हैं—१३ हाथियों का रखवाला (जो मांसाहारी

मुसलमान हैं), बिजली वाला, प्रेस वाला, टेन्ट हाउस वाला तथा बाजे वाला।

दिशाबोध के विद्वान सम्पादक डा० चिरंजी लाल बगड़ा ने भी अपने संपादकीय में इस प्रतिष्ठा महोत्सव से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण या चौंकाने वाले बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

(i) शुरू-शुरू में इन्द्र इक्यावन हजार रुपये लेकर ही बनाये गये थे परन्तु आवश्यक संख्या पूरी न होने पर इकत्तीस, पच्चीस व इक्कीस हजार लेकर भी बनाये गये। एक इक्यावन हजार देने वाले श्रेष्ठि जी ने स्वयं ही घोषणा मंच से प्रसारित कर कि जो व्यक्ति इक्यावन हजार से कम के इन्द्र बने हैं, वे मंच से नीचे उतर जायें, अपने दर्प से सबको चौंका दिया।

(ii) पंच कल्याणक मेला नहीं महोत्सव है, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान है। वैराग्य की जगह राग-रंग का माहौल पंच कल्याणक के धार्मिक महत्व को गिराता है। आरती के वक्त मंच पर कुछ श्रेष्ठि परिवारों द्वारा बम्बइया क्लब स्टेज सदृश स्त्री-पुरुष हाथ पकड़ कर नृत्य करना अशोभनीय रूप से राग-वर्द्धक था।

(iii) एक जैनेतर बन्धु को सौधर्म इन्द्र बनाया जाना जिसका जैन धर्म से दूर-दूर तक नाता नहीं है मात्र एक साधु विशेष के प्रति भक्ति के कारण,—न तो देव दर्शन नियम, न अभक्ष्य त्यागी, न रात्रि भोजन त्याग, न षट् आवश्यक का पालन—यह भी कदाचित् विश्व में पहली बार ही हुआ।

(iv) महोत्सव में सामूहिक भोजन की व्यवस्था इसलिए प्रारम्भ हुई थी कि साधर्मी भोजन के आरंभ से मुक्त हो सकें परन्तु उसके लिये छप्पन व्यंजन युक्त शादी सदृश पकवान बनाना नितान्त गलत परम्परा का पोषण करना है। भोजन कक्ष में दान पात्र रखा जाना चाहिए। समाज को भोजन भिक्षु समाज के रूप में कराना अभीष्ट नहीं है। आदि-आदि।

हम भी उपरोक्त सभी सुझावों का पूर्णतया अनुमोदन करते हैं तथा अपने पूज्य वीतरागी सन्तों से सविनय निवेदन करते हैं कि वे यश-ख्याति के मिथ्या व्यामोह से बच कर श्रावकों को इन धार्मिक आयोजनों को अत्यन्त सादगी और पूर्ण पवित्रता तथा धार्मिकता के साथ सम्पन्न करने की प्रेरणा दें तथा इन्हें श्रावकों में व्रत, नियम, संयम व सदाचरण को प्रोत्साहन देने का सशक्त माध्यम बनायें। हमारी समझ में श्रावकाचार व उसके नैतिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार ही जैन धर्म की विशिष्ट पहचान तथा सही प्रभावना है। क्या यह विडम्बना ही नहीं है कि इतने विशाल धार्मिक आयोजनों के बावजूद हम मधुबन में मांस की बिक्री पर भी रोक नहीं लगवा सके हैं। इस **न भूतो न भविष्यति** तीस-चौबीसी मन्दिर के निर्माण पर तथा उसके अभूतपूर्व पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव पर हुए करोड़ों रुपये के व्यय की दिशा को यदि हम श्री सम्मेदाचल के विकास की ओर मोड़े होते तो हमारे शाश्वत तीर्थ राज का ऐसा विकास हो जाता जिस पर जैन समाज को गर्व होता।

ऐसे महोत्सवों में होने वाले अवांछित वैभव प्रदर्शन व अपव्यय की रोक-थाम के लिए हम तो यह भी वांछनीय समझते हैं कि चूंकि अब इन पर व्यय किसी एक दानवीर का न होकर सम्पूर्ण समाज के आर्थिक योग दान से होता है, इनके हिसाब-किताब में पूरी पारदर्शिता रखी जानी चाहिए तथा उसका विधिवत् किसी चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट्स की फर्म से आडिट करा कर उसका सार संक्षेप **तीर्थ वन्दना** एवं अन्य प्रमुख धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराना चाहिए। इस पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के आयोजकों से भी इस सुझाव पर ध्यान देने का हमारा आग्रह है।

—अजित प्रसाद जैन

——

रिपोर्ट :

इतिहास-मनीषी डा. ज्योति प्रसाद जैन की ११वीं पुण्यतिथि

११ जून, १९९९, को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन 'विद्यावारिधि' की ११वीं पुण्यतिथि पर आयोजित स्मृति गोष्ठी में डाक्टर साहब के प्रेरणास्पद जीवन और इतिहास एवं साहित्य के क्षेत्र में उनके अवदान के सम्बन्ध में विशिष्ट विद्वज्जनों ने अपने श्रद्धायुक्त उद्‌गार व्यक्त किये। श्री राजेन्द्र कुमार जैन (महामंत्री, एसोसियेटेड चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री) ने **वीर के सम्पादन में** प्राप्त मार्गदर्शन को स्मरण करते हुए कहा कि डाक्टर साहब लखनऊ नगर की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय जैन समाज और विद्वज्जगत की धरोहर थे। श्रीमती सितारा जैन (अ०-प्रा० प्राध्यापिका) ने बताया कि डाक्टर साहब की विद्वत्ता सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत रही। विद्यावाचस्पति डा० परमानन्द जड़िया ने बताया कि यद्यपि उन्हें डाक्टर साहब के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु उनके द्वारा प्रारम्भ की गई **शोधादर्श** पत्रिका के माध्यम से वह उनके व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुए। डा० वृषभ प्रसाद जैन (अध्यक्ष, भाषा विज्ञान विभाग, ल० वि० वि०) ने अपने संस्मरण सुनाते हुए बताया कि डाक्टर साहब का यह सूत्र वाक्य कि 'कुछ न कुछ लिखते रहो, धीरे-धीरे यही एक वृहद रूप ले लेगा', मेरे जीवन का मार्गदर्शक बन गया है। डा० महावीर प्रसाद जैन 'प्रशान्त' ने अपनी काव्याञ्जलि प्रस्तुत करते हुए कहा—

पुण्य दिवस तेरा पुण्यवाहक बने जीवन का
ज्योति का प्रसाद सभी पाते रहें युग-युग तक
चिन्हों पर चरणों के दीप सदा जलते रहें
इतिहास स्वयं कह उठे 'जय मनीषी इतिहास के'।

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' ने भी अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये—

आप विद्यावारिधि, सद्‌ज्ञान के भण्डार थे।
देते रहे साहित्य को, नूतन सदा आकार थे।।

जिनप्रभु-संदेश को, जग में फैलाने के लिये,
पुण्यतिथि पावन तेरी, ज्योति ! मनाने के लिये।
आ गया हूं सुमन श्रद्धा के, चढ़ाने के लिये ।।

श्रीमती शारदा जैन ने अपनी श्रद्धाञ्जलि राग मालकोष में बद्ध की जिसे श्रीमती मंज़री जैन ने संगीत दिया—

हे विद्या-वारिधि तुम्हें नमन।
पारस के प्रसून तुम, धरती पर ज्ञान-ज्योति बन आये थे।
अपनी गुण-गरिमा से ही, इतिहास-मनीषी कहलाये थे।
हे उज्जवल ज्योति तुम्हें नमन।
हे विद्या-वारिधि तुम्हें नमन ।।
तेरी पुण्य-तिथि पर, हम सब हैं एकत्र हुए।
तेरी कीर्ति पताका से, सबके मन प्रफुल्ल हुए।
हे नभ के ज्योति तुम्हें नमन।
हे जैन दिवाकर तुम्हें नमन ।।

कार्यक्रम का प्रारम्भ श्रद्धेय डाक्टर साहब के चित्र पर अध्यक्ष श्री अजित प्रसाद जैन (प्रधान सम्पादक, **शोधादर्श**) द्वारा माल्यार्पण और मुख्य अतिथि श्री ज्ञानचन्द जैन (वयोवृद्ध पत्रकार एवं लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार) द्वारा सरस्वती की मूर्ति पर माल्यार्पण एवं दीप-प्रज्वलन के साथ हुआ। कु० निधि श्रीवास्तव ने सस्वर वाणी-वन्दना की। श्रीमती मंजरी जैन, डा० अलका अग्रवाल, श्रीमती मोहिनी एवं श्रीमती निधि जैन ने **महावीराष्टक** तथा **वीतराग स्वरूपम्** का सस्वर पाठ किया। डा० शशि कान्त ने मंच संचालन किया और श्री रमा कान्त जैन ने अन्त में आभार प्रदर्शन किया।

गिलास आधा भरा है का विमोचन

इसी अवसर पर डाक्टर साहब के कनिष्ठ पुत्र श्री रमा कान्त जैन के निबन्ध संग्रह **गिलास आधा भरा है** का विमोचन मुख्य अतिथि श्री ज्ञानचन्द जैन द्वारा किया गया। उन्होंने बताया कि

आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। गद्य साहित्य की असली पहचान है और निबन्ध गद्य की असली पहचान है। रमा कान्त जी के इसमें चयनित निबन्धों को उन्होंने आनन्द के साथ पढ़ा है और रसानुभूति की है। उनका मानना है कि सेवा से अवकाश ग्रहण के उपरान्त आयु के जिस खण्ड में रमा कान्त हैं वह सामाजिक दाय के निर्वहन के लिये स्वर्णकाल है और यह प्रसन्नता की बात है कि अपने विद्वत्ता को समर्पित पिताश्री डा० ज्योति प्रसाद जी के पद चिन्हों पर चल कर वह अध्ययन, शोधन और साहित्य-सृजन में अपना योगदान कर रहे हैं।

डा० ओम प्रकाश त्रिवेदी (अ०-प्रा० रीडर, हिन्दी विभाग, ल० वि० वि०), जिन्होंने प्रत्येक निबन्ध की समीक्षा करते हुए अपनी प्रस्तावना दी है, ने बताया कि इन निबन्धों में सर्वधर्म सारांश दृष्टिगत होता है और कुछ निबन्धों में जैन दर्शन के सिद्धांतों का *व्यावहारिक निर्वचन भी किया गया* जो सबके लिये बोधगम्य है।

पं० गजेन्द्र नाथ चतुर्वेदी (लब्ध प्रतिष्ठ वरिष्ठ हिन्दी साहित्यकार) ने बताया कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध संग्रह **चिन्तामणि** ने हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा दी थी और निबन्ध लेखन को प्रोत्साहित किया था। रमा कान्त जी के निबन्ध मैंने पढ़े हैं, वे बड़े पठनीय हैं और उनकी एक विशेषता यह है कि उनमें भारी भरकम शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है।

श्री गया प्रसाद तिवारी 'मानस' (सुप्रसिद्ध साहित्यकार) ने अपनी कामना की कि यद्यपि पुस्तक का शीर्षक "गिलास आधा भरा है" है, उनका गिलास कभी भरे नहीं और वह अनवरत साहित्य-साधना करते रहें।

अध्यक्षीय सम्बोधन में श्री अजित प्रसाद जैन ने रमा कान्त जी को इस साहित्यिक कृति के प्रकाशन के लिये आशीर्वाद दिया और अपने अग्रज डाक्टर ज्योति प्रसाद जी को स्मरण करते हुए बताया कि डाक्टर साहब का विशेष गुण ज्ञानार्जन के प्रति निष्ठा और ज्ञान के वितरण के प्रति समर्पण था।

डा० शशि कान्त ने बताया कि इस संकलन में रमाकान्त जी के ऐसे ललित निबन्ध चयनित हैं जो विगत ३३ वर्षों में किसी समय विशेष में परिवेश को किसी घटना से प्रेरित होकर सहज भावोद्गार के रूप में प्रस्फुटित हुए। संवेदन की सहजता और गहनता एक साधारण घटना या व्यक्ति को किस प्रकार प्रेरणास्पद बना सकती है, और सापेक्ष व्यवहार बुद्धि किस प्रकार भावात्मक सिद्धान्तों या सूत्रों को व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में आचरण का सहज अंग बना सकती है, इस दृष्टि से इनका चयन किया गया है। उनकी ३ पद्य रचनायें भी इस संग्रह में हैं जो उनकी भक्ति-भावना से प्रसूत हैं।

श्री अनिल 'बांके' (सुप्रसिद्ध हास्य कवि) ने अपने उद्गार निम्नवत् प्रकट किये—

कवि स्वतन्त्र है सब कहता है,
नहीं किसी से डरा है।
कसौटी में कसिये आप,
वह कितना खरा है।
जवाब है नहीं रमाकान्त जी के लेखों का,
पूरे भरे गिलास को जो कहते आधा भरा है।

डा० महावीर प्रसाद जैन 'प्रशान्त' ने भी अपनी निम्नलिखित प्रतिक्रिया व्यक्त की—

अन्तर से निकले हुए
रमाकान्त के लेख
देखन में छोटे लगें
देते चोट विशेष।
देते चोट विशेष—
विचारों को उकसाते
द्वन्द्व-ग्रसित जीवन को
ये नव मार्ग दिखाते

'आधा भरा गिलास' है
जो चाहो मिल जाय
सुख भी देता है यही
दुख भी यही दिलाय।
कहता मैं निर्लिप्त कि
इन लेखों से भारी
लाभान्वित मैं हुआ स्वयं,
हूं अति आभारी।

सर्वश्री ज्ञानेन्द्र मोहन सिन्हा, प्रवीण चन्द्र छाबड़ा, धर्मवीर और निरंजन दास जैन ने आयोजन के सन्दर्भ में अपनी श्रद्धाञ्जलि और शुभकामनायें प्रेषित कीं।

अन्त में, भारतीय मनीषा के विशिष्ट प्रतिनिधि डा० प्रेम सागर जैन (बड़ौत), डा० नथमल टाटिया और डा० परमेश्वर सोलंकी (लाडनू) के निधन पर, तथा वर्तमान में कारगिल क्षेत्र में पाकिस्तानी आक्रमणकारियों का प्रतिकार करते हुए वीरगति को प्राप्त भारत के वीर सैनिकों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई तथा आहत सैनिकों और उन सभी के परिवारों के प्रति संवेदना व्यक्त की गई।

—नलिन कान्त जैन

रिपोर्ट :

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति शोध पुस्तकालय स्थापना दिवस—श्रुतपंचमी

१८ जून, ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, को लखनऊ स्थित तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, के शोध पुस्तकालय में श्री अजित प्रसाद जैन की अध्यक्षता में श्रुतपंचमी पर्व एवं पुस्तकालय स्थापना दिवस मनाया गया। षट्खण्डागम ग्रन्थ की प्रति के समक्ष मां जिनवाणी के वन्दन-स्तवन के उपरान्त डा० शशि कान्त ने श्रुत पंचमी पर्व के ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्मरण दिलाया कि इसी दिन सन् १९७६ ई० में जैन वाङ्मय के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा प्रदान किये जाने के सद्उद्देश्य से इस शोध पुस्तकालय की स्थापना हुई थी और बताया कि अनेक शोध-छात्र एवं सामान्य पाठक इससे लाभान्वित हुए हैं और हो रहे हैं। श्रुत पंचमी पर्व के महत्व की चर्चा को डा० पूर्ण चन्द्र जैन ने आगे बढ़ाया और श्री अजित प्रसाद जैन ने बताया कि श्रावकों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने हेतु जैन मन्दिरों में शास्त्र भण्डारों की स्थापना का यह दिवस है। उन्होंने यह भी सूचित किया कि बहुत से जैन मन्दिरों में आज भी शास्त्र भण्डारों के शास्त्रों के वेष्ठन बदलने और उनकी समुचित साज-संभार करने की प्रथा है जिसके फलस्वरूप हमें वहां सैकड़ों वर्ष पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित मिल जाते हैं। श्रीमती सितारा जैन ने जिनवाणी और कु० निधि श्रीवास्तव ने सरस्वती वन्दनायें प्रस्तुत की। श्री चन्द्र मोहन जैन एवं कु० हेमा सक्सेना के भजनों और श्री रमा कान्त जैन एवं श्रीमती त्रिशला जैन के काव्य-पाठ के साथ कार्यक्रम का समापन हुआ।

—कु० हेमा सक्सेना
पुस्तकालय सहायिका

परिचय

श्री विद्या विनोद काला : एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

जयपुर के श्री विद्या विनोद काला (जन्म १३ नवम्बर, १९३२; निधन २१ जुलाई, १९९८) के पितामह प्रसिद्ध शिक्षा-विद मास्टर पांचूलाल जी काला थे और पिता श्री विद्या प्रकाश काला थे जिन्होंने १९४३ में महात्मा गांधी के आह्वान पर हरिजनों के हाथ से मिठाई स्वीकार की थी, जिसके कारण पूरा समाज "बाबू पार्टी" व "पण्डित पार्टी" में विभाजित हो गया था।

ढाई वर्ष की उम्र में माता का साया उनके सिर से उठ गया। उन्होंने एम० ए० तक शिक्षा ग्रहण की और परिवार की विपन्न अवस्था के कारण पढ़ाई के साथ ही अर्थोपार्जन भी किया। कालेज जीवन में वह पूरे राजस्थान के छह हजार विद्यार्थियों के संगठन के महासचिव चुने गये तथा उनके आन्दोलनों का नेतृत्व करते हुए तीन बार जेल भी गये। तब से ही वे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उभरे जो स्वाभिमान और जोश का प्रतीक था।

व्यक्तिगत रूप से श्री काला अपने कर्मों में सादगी और समाजोपयोगिता लाने के पक्षधर थे। उनकी दृष्टि में मन्दिरों के बजाय अस्पताल व स्कूल बड़े धर्मस्थल थे। आत्मकल्याण से पूर्व परोपकार-प्रेरक संवेदना को वे प्रथम आवश्यकता मानते थे। उनके अनुसार जैन धर्म आज से अधिक कभी प्रांसगिक नहीं रहा। एकेन्द्रीय जीव के रूप में महावीर ने वृक्षों की कटाई पर उस समय प्रतिबन्ध लगाया जब सम्भवत: पर्यावरण शब्द की उत्पत्ति तक नहीं हुई थी। वन्य जीवों की रक्षा का आज नारा दिया जा रहा है, जैन धर्म ने हजारों वर्ष पूर्व इसके महत्व को ध्यान में रख कर धर्म में अहिंसा पर जोर दिया था।

अपने चारों पुत्रों के विवाह में वर व उसके किसी रिश्तेदार के

लिये उन्होंने कोई उपहार स्वीकार नहीं किया। विवाह के अवसर पर दी जाने वाली बड़ी दावतों के स्थान पर एक अल्पाहार का प्रचलन भी आरम्भ किया। जयपुर नगर में दिन में पाणिग्रहण संस्कार को पुनर्जीवित किया और अपने चारों पुत्रों के विवाह समारोह सूर्य के प्रकाश में आयोजित किये। "स्वागत वधु" कार्यक्रम आयोजित कर महिला गरिमा को बढ़ाया।

उनकी मान्यता थी कि जो उत्सव-अनुष्ठान गरीब-अमीर सब परिवार में होते हैं, उनमें अत्यधिक सादगी की आवश्यकता है, ताकि कोई अपने आपको छोटा महसूस न करे। वह इस बात के पक्षधर रहे कि परिवार का संयुक्त स्वरूप सहज व स्वाभाविक हो, न कि किसी एक के अहं के लिये। संयुक्त परिवार के हानि-लाभ सापेक्षिक हैं। एकल परिवार में प्रतिस्पर्धा भावना के कारण उन्नति के अवसर अधिक हैं तो संयुक्त परिवार में सुरक्षा कसौटी है।

१९९२ का जयपुर में आयोजित वार्षिक महावीर जयन्ती समारोह एक ऐतिहासिक घटना है। उन्होंने समाज का आह्वान किया कि महावीर जयन्ती को सार्थक बनाने के लिये भगवान महावीर कैंसर चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र स्थापित किया जाए और इस हेतु स्वयं १० लाख रुपये देने की तत्काल घोषणा की। इस आह्वान की मार्मिकता व सच्चाई से लगभग ४० लाख रुपये उसी समय एकत्रित हो गये। राज्य सरकार की ओर से मुख्य मन्त्री श्री भैरो सिंह शेखावत ने निःशुल्क भूखण्ड देने की घोषणा की। अपने लक्ष्य की पवित्रता और निश्चय की दृढ़ता से उन्होंने १२ करोड़ की भूमि और ११ करोड़ रुपये की धनराशि से अपने मिशन प्रोजेक्ट 'भगवान महावीर कैंसर चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र' को मूर्त रूप दे दिया। समर्पित व निष्ठावान कैंसर रोगी की जीवन गाथा ने शहर को समाज सेवा की नई परिभाषा दी है।

श्री काला अतार्किक परिपाटियों, ढ़कोसलों और परम्पराओं के चिर-विरोधी थे। उनके चिंतन में सदैव आदमी का सम्मान था, वहीं वे सामाजिक कुरीतियों के विरोध का साहस रखते थे। वह अपने विचारों में खरेपन और स्पष्टवादिता के लिये जाने जाते थे। उनके जीवन दर्शन के सूत्र-वाक्य, उनके विचार व कार्य परिवार और समाज को बराबर दिशा देते रहेंगे।

—विवेक काला

साहित्य सत्कार

Pearls of Jaina Wisdom—by Sri Duli Chand Jain, Ed. Dr. Sagarmal Jain & Dr. Shri Prakash Pandey; pub. Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi / Research Foundation for Jainology, Chennai; 1997; pp. 328; price Rs. 120/-

It is English version of the author's book जिनवाणी के मोती and a compilation of 650 Sutras (or aphorisms) meticulously selected from the entire Jaina canonical literature (both Digambara and Svetambara) with a view to provide an authentic and lucid presentation of Jaina thought and ethics, representing the teachings of Tirthankara Lord Mahavira. The Sutras are classified into 71 lessons, divided in 12 chapters subject-wise. The Sutras are given in original (with Roman rendering of the Prakrit text) together with English translation. The introductory chapter includes a brief life-sketch of Lord Mahavira and a note on the Jaina Agamic literature. There is also a scholarly Foreword on 'Jaina thought through the ages' by Dr. Satyaranjan Banerjee of the Calcutta University.

Springs of Jaina Wisdom—by Sri Duli Chand Jain; pub. Research Foundation for Jainology, Chennai; 1999; pp. 128; price Rs. 30/-

Springs of Jaina Wisdom or **जिनवाणी का निर्झर** also is a compilation of selected Agamic Sutras but a shorter one as it contains only 200 Sutras, and is in booklet size. The collection is intended to bring out the most inspiring thoughts of Lord Mahavira, and the author has ably succeeded in his efforts.

Each Sutra (or aphorism) has a title with translation in Hindi and English.

Both the above books present a neat and elegant get up, provide thought-provoking reading, and are valuable contribution in the field of Jainological studies.

These books, particularly the **Pearls of Jaina Wisdom**, remind us of the **Saman Suttam** brought out on the eve of the 25th Nirvana Centenary of Lord Mahavira, with the unanimous approval of the Acharyas of all the sects of Jains. That compilation of 756 Sutras selected from the entire Canonical Literature of the Jains of all the sects aimed at presenting the quintessence of Jainism, Jain Thought and Ethics in one book form.

—अजित प्रसाद जैन

गिरनार महात्म्य—लेखक-श्री रामजीत जैन; प्रकाशक—जैन समाज, ग्वालियर; प्राप्ति स्थान—ज्ञान मन्दिर, पाटनकर बाजार, लश्कर, ग्वालियर-४७४००१; पृ० १५२ + २४ + चित्र; १९९९; मूल्य रु० ६०/-

अनेक पुस्तकों के प्रणेता, लब्ध प्रतिष्ठ, वयोवृद्ध साहित्यकार एवं इतिहासकार श्री रामजीत जैन, एडवोकेट, की लेखनी से प्रसूत विवेच्य कृति में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की तपोभूमि और निर्वाण-स्थली गिरनार तीर्थ क्षेत्र का विशद प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। तीर्थक्षेत्र, गिरनार महात्म्य, गिरनार के पौराणिक सन्दर्भ, सौराष्ट्र और गिरनार, गिरनार और गुजरात, जैन साहित्य में गिरनार, गिरनार अभिलेखों में, गिरनार के युग पुरुष, देवी अम्बिका स्थल गिरनार, गिरनार क्षेत्र दर्शन, गिरनार पर क्षेत्राधिकार, ऐतिहासिक महापुरुष नेमिनाथ, नेमिनाथ चरिउ, नेमिनाथ की जन्म-भूमि शौरीपुर, और उपसंहार, शीर्षक से १५ प्रकरणों के अन्तर्गत विद्वान लेखक ने विषय से सम्बन्धित प्रायः सभी आवश्यक पक्षों को

स्पर्श किया है और आरम्भ में 'गिरनार भक्ति वन्दना, ऊर्जयन्त महात्म्य' और अन्त में 'गिरनार पूजा' एवं 'फूलमाल पच्चीसी' देकर विषय को महिमा मण्डित किया है।

इतिहास के शोधक विद्वान डा० शशि कान्त की सारगर्भित प्रस्तावना, प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी की भूमिका, डा० अनुपम जैन की समीक्षा और श्री कपूरचन्द वरैया एवं डा० भागचन्द जैन 'भागेन्दु' की शुभ सम्मतियों ने, अनेक मुनि महाराजों का आशीर्वाद प्राप्त, इस कृति में चार चाँद लगाये हैं। कागज, सज्जा एवं मुद्रण की दृष्टि से पुस्तक उत्तम कोटि की है। इस पठनीय एवं संग्रहणीय प्रस्तुति के लिये इसके रचनाकार साधुवाद के पात्र हैं।

ऋषभ भारती (वर्ष-२, अंक ७, ८ व ९—फरवरी-अप्रैल १९९९)—प्रधान सम्पादिका ब्र० प्रभा जैन, एम.ए., एम. फिल., पी-एच.डी.; *प्रकाशक—श्री ब्राम्ही सुन्दरी प्रस्थाश्रम*, २१, कंचन विहार, विजय नगर कालोनी, जबलपुर; १८ + आवरण; सदस्यता शुल्क—१०१ रु० आजीवन

ब्राम्ही सुन्दरी प्रस्थाश्रम के मासिक मुख पत्र के रूप में प्रकाशित विवेच्य अंक तीन मास का संयुक्तांक है। इस अंक में द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग नामक चार खण्डों में १० आलेख/रचनायें समाहित हैं। 'दुविधा और द्वन्द्व' शीर्षक से जहाँ प्रो० एल० सी० जैन का सम्पादकीय है वहीं उनके साथ प्रधान सम्पादिका ने श्रुत पंचमी पर विशेष वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में गिरिनगर की चन्द्रगुफा में हीनाक्षरी और घनाक्षरी का रहस्य समझाया है। यह पत्रिका अपने लघु कलेवर में ज्ञानवर्द्धक लेख, पद्य रचनायें, कथा और आम आदमी के काम की बातें, सभी को समाहित किये हुए हैं।

—रमा कान्त जैन

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर—The Jaina Antiquary, vol. 50-51, (1997-1998)—**प्राच्य दुर्लभ पाण्डुलिपि विशेषांक २—प्र०** सं० डा० राजाराम जैन, सं० डा० ऋषभ चन्द्र फौजदार; प्र०—श्री

देव कुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा-८०२३०१; पृ० ५१४; मूल्य रु० २००/-

डा० राजाराम जैन ने प्रधान सम्पादकीय में पाण्डुलिपियों और उनके महत्व का, लिपिकरण की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए, श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा, में संग्रहीत पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ से निर्देश किया है। डा० गोकुल चन्द्र जैन की प्रथम खण्ड में दी गई प्रस्तावना के साथ इस खण्ड की प्रस्तावना भी अंग्रेजी में दी गयी है जो विषय की महत्ता को समझने में सहायक है। डा० ऋषभ चन्द्र जैन 'फौजदार' ने अपने सम्पादकीय में सूचीकरण में अपनाई गई विधि का निर्देश किया है। श्री जैन सिद्धान्त भवन का ९५वां वार्षिक प्रतिवेदन (१९९८) भी सम्मिलित है जो भवन के ऐतिहासिक महत्व और कार्यकलापों पर प्रकाश डालता है।

प्रथम भाग में अंग्रेजी में क्रमांक ९९८ से २०२० तक १०२३ पाण्डुलिपियों का सूचीकरण है और यह पुराण-चरित-कथा, धर्म-दर्शन-आचार, रस-छन्द-अलंकार-काव्य, मन्त्र-कर्मकाण्ड, आयुर्वेद, स्तोत्र, तथा पूजा-पाठ-विधान आदि ७ वर्गों में है। परिशिष्ट स्वरूप भाग-२ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के उपरोक्त सूचीबद्ध ग्रन्थों का प्रारम्भिक व अन्तिम अंश और पुष्पिका (Colophon) नागरी लिपि में दिये गये हैं।

यह पाण्डुलिपि विशेषांक एक उपयोगी सन्दर्भ संग्रह है। इसको उपलब्ध कराने के लिये इसके सम्पादक और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

संस्कार सागर वर्ष ३, अंक ३ (जुलाई १९९९)—प्रधान संपादक—श्री ब्र० जिनेश मलैया; प्र०-श्री दिगम्बर जैन युवक संघ, श्री दिगम्बर जैन पंच बालयति मन्दिर, सत्यम गैस के सामने, ए० बी० रोड, इंदौर-१०; पृ० ६४ सचित्र + विविध रंग आवरण पृ० ४

इसका मूल्य प्रति पर अंकित नहीं है, तथापि इसका भव्य स्वरूप और आकार इसे पर्याप्त व्यय-साध्य सूचित करता है।

डा० डब्ल्यू० एच० सिद्दीकी का लेख सूचना-पारक है। 'भिखारी की आत्मकथा' मर्मस्पर्शी है। अन्य भी विविध सामग्री है। आचार्य श्री विद्या सागर जी की प्रचार-प्रभावना से निःसृत इस पत्रिका में दूरदर्शन और विविध भारती (आकाशवाणी) की व्यावसायिक विज्ञापन विधा का सम्यक् दिग्दर्शन दर्शनीय है। इस मीडिया प्रचार के युग में यदि भगवान महावीर स्वामी होते तो संक्रमित होने से कदाचित ही बच पाते। प्रचार-प्रभावना में चातुर्य-पूर्ण योगदान के लिये बधाई !

Acharya Yogindu's Yog-Saar—English translation & Commentary by Shri Dasrath Jain; ed. Smt. Kusum Jain; pub. Keladevi Sumatiprasad Trust/ Arihant International, 239, Gali Kunjas, Dariba, Delhi-110006; 1998; pp. 170; price Rs. 100/-

The **Yoga-Sara** was composed by Jogichand Muni in Apabhramsa in 108 couplets (**doha**) some time not later than the 7th century A. D. Shri Dasrath Jain, though a politician and lawyer by profession, has been a serious student of Jain lore and mysticism. He has dealt with the fundamentals of Jainism, self-realization, the contents of **Yoga-Sara**, and its author, in his learned Introduction. Then, he has given translation of the couplets in simple English, and detailed commentary on each of them, keeping his basis Brahmchari Shital Prasad ji's Hindi commentary (published 1940 A. D.). In his words, "This work very lucidly tells us, how the soul can be distinguished with non-soul, how the two are inter-related, and the consequences thereof; and how, in what manner, with what ways and means, the soul can be liberated of Karmas, (non-soul matter), be purified and made perfect."

There are some printing errors, but they do not digress. For making this work available to the English reading scholars and students, with useful and documented commentary, the author and the publishers deserve congratulations.

—डा० शशि कान्त

गिलास आधा भरा है—लेखक—श्री रमाकान्त जैन; प्रकाशक—ज्ञानदीप प्रकाशन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४; ११ जून, १९९९; पृष्ठ ५४ + xviii, आकर्षक मुख पृष्ठ; आमुख-श्री ज्ञानचन्द जैन, प्रस्तावना-डा० ओम प्रकाश त्रिवेदी, प्रकाशकीय-डा० शशि कान्त; मूल्य रु० ५०/-

श्री रमा कान्त जैन एक प्रबुद्ध विचारक तथा सिद्ध हस्त गद्य लेखक हैं। अपने स्वनाम धन्य पिता डॉ० ज्योति प्रसाद जैन से स्वाध्याय एवं शोध के संस्कार उन्हें विरासत में मिले हैं। **गिलास आधा भरा है** में उनके सोलह निबन्धों [गिलास आधा भरा है, सच्चा इन्सान, सुख का उपाय, परस्पर व्यवहार, अपरिग्रह व्यवहार में, सत्य व्यवहार में, अनेकान्तवाद—व्यावहारिक जीवन में, आम आदमी का धर्म, मुक्ति का मार्ग, बात का प्रभाव, आयुष्मान भव, शिक्षा का मर्म—सावधानी, अति तत्काल, वनराज की बीमारी, बहाव, चन्द्र चर्चा] और तीन पद्य रचनाओं (विनती, वीतराग के द्वार पर, भावना] का संकलन है। इन निबन्धों में जीवन तथा जगत के बहुरंगीय चित्र रोचक शैली में चित्रित किये गये हैं, जिनमें लेखक की मौलिक उद्भावना तथा स्वाध्याय की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। श्री ज्ञानचन्द जैन ने पुस्तक के आमुख में ठीक ही कहा है कि 'सच्चा इन्सान' इस संग्रह का मुकुट मणि है। सच्चे इन्सान की कीर्ति-कथा विलक्षण है। भगवान शंकर की भांति जन कल्याण हेतु काल कूट विष को धारण कर दीवान साहब ने 'नेकी कर, दरिया में डाल' वाली कहावत को चरितार्थ कर दिया है। यह निबन्ध कहानी की रोचकता तथा कुतूहल को अपने अन्तर में समेटे हुए है। बड़ा

प्रेरणास्पद प्रसंग है । 'चन्द्र चर्चा' में लेखक के गहन अध्ययन और विशद ज्ञान के दर्शन होते हैं । चन्द्रमा के विभिन्न पर्याय, पौराणिक सन्दर्भों में चन्द्र की भली बुरी करतूतें, उसके उद्भव एवं विकास की कहानी, उसकी लोकप्रियता, साहित्य में चन्द्र की स्थिति, ज्योतिष तथा खगोलकीय मान्यतायें और वैज्ञानिक युग में चन्द्रलोक की यात्रा—सभी कुछ बड़े रोचक ढंग से इस लेख में समाहित है ।

श्री रमा कान्त जैन यद्यपि जैन धर्मावलम्बी हैं परन्तु वे रूढ़िवादी नहीं है । 'अपरिग्रह' तथा 'मुक्ति का मार्ग' शीर्षक लेखों में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि हम समाज में रहकर पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकते, परन्तु जो जितना कम संचय करता है, उतना ही सुखी रहता है । 'मुक्ति का मार्ग' में भी वे कहते हैं 'मुक्ति पाने के लिये मनुष्य को किसी तपस्या की आवश्यकता नहीं है । मात्र अपने सामान्य कर्तव्यों का निर्वाह करते हुये सन्तोष के साथ जीवन यापन करना उसके लिये पर्याप्त है ।' अपनी बात को उन्होंने सरकारी दफ्तरों में होने वाली पत्रावलियों की 'वीडिंग' से सिद्ध करने का सुन्दर तथा सार्थक प्रयास किया है ।

'बात का प्रभाव', 'सुख का उपाय', 'परस्पर व्यवहार', तथा 'अति तत्काल' लेख प्रभावोत्पादक हैं और साथ ही शिक्षा-प्रद भी। लेखक को विषय प्रतिपादन में अच्छी सफलता मिली है । अनुभव, अध्ययन तथा अभिव्यंजना की त्रिवेणी है इन लेखों में । पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है । लेखक को एतदर्थ साधुवाद !

—डा० परमानन्द जड़िया

समाचार विमर्श

—श्री अजित प्रसाद जैन

शास्त्रि परिषद—हीरक जयन्ति व वार्षिक अधिवेशन

अखिल भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद का ७५वां वार्षिक अधिवेशन एवं हीरक जयन्ति समारोह सीकर में ३ अप्रैल, १९९९, को प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी की अध्यक्षता में व पू० उपाध्याय ज्ञान-सागर म० व मुनि वैराग्य सागर म० के पावन सानिध्य में सम्पन्न हुआ।

अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि संस्था का मूल उद्देश्य आर्ष मार्ग का संरक्षण करना रहा है, अतः देव-शास्त्र-गुरु भक्त व आर्ष मार्ग का पोषक विद्वान ही इस संस्था का सदस्य बन सकता है तथा सोनगढ़/टोडरमल स्मारक भवन से सम्बद्ध किसी संस्था का सदस्य, शास्त्रि परिषद का सदस्य नहीं बन सकता। यदि शास्त्रि परिषद का कोई सदस्य किसी ऐसी एकान्तवाद पोषक संस्था का सदस्य किसी भ्रान्ति वश बन गया हो तो उसे उस संस्था से त्याग पत्र दे देना चाहिए। हमारी समझ में यदि प्रस्ताव में ऐसे सदस्यों के लिए एकान्तवाद पोषक संस्थाओं से सम्बन्ध विच्छेद करने की कोई समय सीमा भी निर्धारित कर दी जाती तथा ऐसा न करने पर शास्त्रि परिषद की सदस्यता रद्द करने की चेतावनी भी सम्मिलित कर दी जाती तो प्रस्ताव निश्चय ही परिणाम मूलक हो जाता तथा शास्त्रि परिषद अपना शुद्धि करण भी एक निश्चित समय में कर लेती।

एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा मध्य प्रदेश के कतिपय प्रमुख हिन्दू एवं जैन मन्दिरों का अधिग्रहण करने के मध्य प्रदेश सरकार के प्रस्ताव का घोर विरोध किया गया तथा उसे वापस लेने के लिये सरकार से आग्रह किया गया। आश्चर्य है कि इस अति महत्वपूर्ण गम्भीर विषय पर समाज की किसी पत्र-पत्रिका में कोई चर्चा या समाज की किसी अन्य संस्था द्वारा विरोध अंकित कराने की खबर अभी तक पढ़ने

में नहीं आई। मध्य प्रदेश सरकार के इस प्रस्ताव के विरोध में (यदि यह अभी भी विचाराधीन है) सम्पूर्ण जैन समाज को एक जुट होकर अपनी शक्ति प्रदर्शित करनी चाहिए। ऐसी ही धर्म विरोधी सरकारी खुराफातों से अपने मन्दिरों व धार्मिक संस्थाओं को बचाने के लिए जैन समाज को धार्मिक अल्पसंख्यक घोषित कराना अत्यावश्यक है, और **यह हमारा संवैधानिक अधिकार भी है**। अल्पसंख्यक दर्जे का विरोध कर रहे बन्धुओं को अपने रवैये पर गंभीरतापूर्वक पुर्नविचार करना चाहिए।

शास्त्रि परिषद ने हीरक जयन्ति अधिवेशन के निमित्त से भी सामयिक महत्व के कुछ प्रस्ताव पारित किये हैं, यथा—

(i) पोस्टरों, बैनरों, समाचार-पत्रों, बैजों, निमन्त्रण पत्रिकाओं, आदि में तीर्थंकरों व साधु परमेष्ठियों के चित्रों का प्रकाशन अन्ततः अविनय का ही कारण बनता है, इस प्रवृत्ति पर विराम लगना चाहिए। हम भी इस प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। अधिकतर धार्मिक समारोहों, पूजा-विधानों आदि एवं मुनि संघों से, जिनके निमित्त से सचित्र पोस्टर, बैनर, निमन्त्रण पत्रिकायें आदि छपाई जाती हैं, शास्त्रि परिषद के विद्वान जुड़े रहते हैं, यदि वे इस प्रस्ताव के क्रियान्वयन में सक्रिय रुचि लें तो इस अविनय मूलक प्रवृत्ति पर रोक लगने में देर नहीं लगेगी।

(ii) यद्यपि आजकल जैन साहित्य का प्रकाशन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक परिमाण में हो रहा है, जो हर्ष की बात है, पर छपने से पूर्व प्रूफ संशोधन, शोधन आदि पर समुचित ध्यान न देने से उनमें ढेरों अशुद्धियां रह जाती हैं, जिससे प्रबुद्ध वर्ग में हम हंसी के पात्र बनते हैं। अतः इस ओर पर्याप्त सावधानी बरती जानी चाहिए।

(iii) जिस एकान्तवाद के कारण विगत में जैन शासन का बहुत अवर्णवाद हुआ है, वह अब प्रलोभनों आदि का झुनझुना दिखा कर आर्ष मार्गी संस्थाओं के विभाजन का कुचक्र रचने में संलग्न है। परिषद सम्पूर्ण विद्वत् समाज व श्रावक बन्धुओं से निवेदन करती है

कि इस प्रकार का बेमेल तालमेल करने वालों को किसी भी स्तर पर प्रोत्साहन न दें।

यह प्रस्ताव स्पष्टतः अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के गत वर्ष हुए निर्वाचन एवं विभाजन को लक्ष कर पारित किया गया है। हमारी समझ में उक्त संस्था के विभाजन की पृष्ठ भूमि में सिद्धान्तों की अपेक्षा वर्चस्व के संघर्ष की भूमिका मुख्य रही है। यदि विद्वत् परिषद भी आर्ष मार्ग के संरक्षण तथा देव-शास्त्र-गुरू की भक्ति के प्रति उन्हीं अर्थों में प्रतिबद्ध होती जिन अर्थों में शास्त्रि परिषद है तो पचास वर्ष पूर्व उसका गठन ही क्यों होता जब कि विद्वानों की एक संस्था—शास्त्रि परिषद पहले से ही सक्रिय रूप से कार्यरत थी।

हमें यह देख कर विस्मय एवं दुख हुआ कि हीरक जयन्ति के अति महत्वपूर्ण अधिवेशन के सुअवसर पर भी आर्ष मार्ग के संरक्षण में अपने को पूरी तरह प्रतिबद्ध घोषित करने वाली शास्त्रि परिषद के माननीय विद्वानों का ध्यान श्रमण संस्था में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही चारित्र-स्खलन (एवं अनाचार) की कुप्रवृत्ति की रोकथाम के लिये कोई कारगर कदम उठाने का निश्चय नहीं किया गया। अभी **धर्म मंगल** (पा०) पत्रिका की विदूषी सम्पादिका जी ने उसके दि० १ जुलाई, १९९९, के अंक में आचार्य अमृतसेन तथा गणधराचार्य म० के संघों की चारित्र-स्खलन की कुछ चौंका देने वाली घटनाओं पर बिशद प्रकाश डाला है (घटनाएं अक्टूबर १९९८ तथा जनवरी १९९९ की हैं)। सभी दिगम्बर वेशी (तथाकथित) गुरुओं के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के कारण ही कदाचित् शास्त्रि परिषद ने उन घटनाओं की भर्त्सना करना तथा दोषी त्यागियों को प्रायश्चित-दीक्षा-छेद आदि दण्ड दिये जाने की मांग न कर उपगूहन के नाम पर उन्हें अनदेखी करना ही उचित समझा होगा। किन्तु क्या इसे शास्त्रि परिषद द्वारा शिथिलाचार की कुप्रवृत्तियों का मूक समर्थन नहीं समझा जायेगा?

सम्पादिका जी ने यह भी उल्लेख किया है कि एक आर्यिका जी अपने गुरू आचार्य जी को **'पापा'** कह कर सम्बोधित करती हैं,

आचार्य जी से सट कर बैठती हैं, उनकी गोदी में सिर रख कर सोती हैं तथा रात्रि में आचार्य जी अपने बन्द कमरे में ही आर्यिका जी को सुलाते हैं। आचार्य जी के पास लाखों रुपये के इन्दिरा विकास पत्र भी ताले में बन्द रखे बताये गये हैं। क्या परिषद इन प्रवृत्तियों का भी मौन समर्थन करती है ?

शास्त्रि परिषद ने अपने वर्ष १९९८ के अधिवेशन में सभी मुनि संघों द्वारा पालन किये जाने के लिए एक २३-सूत्री नियमावली प्रसारित की थी तथा उसका क्रियान्वयन सुनिश्चित कराने के लिये पांच सदस्यों की एक समिति भी गठित की थी। इसकी कोई जानकारी देखने को नहीं मिली कि उक्त समिति के प्रयासों की मुनि संघों में क्या प्रतिक्रिया रही।

कामदेव मन्दिर

तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर की तलहटी मधुबन में, जिसने अब मन्दिरों की नगरी का ही रूप ले लिया है, **विश्व में प्रथम बार निर्मित** तीस-चौबीसी मन्दिर के परिसर में एक **कामदेव मन्दिर** का भी निर्माण किया गया है जिसकी प्रतिष्ठा भी तीस-चौबीसी मन्दिर के साथ की गई है। इस **कामदेव मन्दिर को भी जैन जगत में प्रथम बार निर्मित होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है।**

कामदेव मन्दिर के नाम से यह कल्पना न की जाय कि इससे खजुराहों के विश्व प्रसिद्ध कंडरिया महादेव या उड़ीसा के कोणार्क मन्दिर के अनुपम भित्ति-मूर्ति-शिल्प की तर्ज पर विभिन्न कल्पनीय-अकल्पनीय काम मुद्राओं में मैथुन रत युगलों की मूर्तियां स्थापित की गई होंगी जिनका अवलोकन करने तथा जिनसे प्रेरणा प्राप्त करने श्रद्धालु भक्तों सहित देश-विदेश के सैलानी भारी संख्या में श्री सम्मेद शिखर की यात्रा के प्रति आकर्षित होंगे। इस मन्दिर में वर्तमान अवसर्पिणी काल में अपने भरत क्षेत्र में जन्मे २४ कामदेवों की धातु निर्मित खड्गासन ध्यान मुद्रा में दिगम्बर प्रतिमाएं विराजमान की गई हैं। इन प्रतिमाओं की ऊंचाई १८ इंच है जबकि तीस-चौबीसी मन्दिर तथा कमल मन्दिर में स्थापित तीर्थंकर प्रति-

माओं की ऊंचाई १५ इंच ही है। अपेक्षाकृत अधिक ऊंचाई की कामदेवों की प्रतिमाएं कदाचित् उनके यौन सौन्दर्य को अधिक प्रमुखता के साथ प्रदर्शित करने के उद्देश्य से निर्मित कराई गई होंगी।

जैन संस्कृति की पौराणिक अवधारणा में ६३ शलाका पुरुषों का ही विशेष महत्व है। ये ही इतिहास पुरुष है जिनका अलौकिक पुरुषार्थ एवं जीवन शैली युगों-युगों से मनुष्य जाति को प्रेरणा देती रही है, उसका मार्ग दर्शन करती रही है व करती रहेगी। पुराण शास्त्र इन पुण्य श्लोक महापुरुषों के अलौकिक रूप सौन्दर्य, बल, शौर्य, पराक्रम, उदात्त गुणों व असाधारण पुरुषार्थ के गुण गान से भरे पड़े हैं। इनमें भी धर्म तीर्थ के प्रवर्तक सर्वज्ञ अर्हन्त तीर्थंकर देव (२४) तथा छहों खण्ड पृथ्वी के विजेता सार्व भौम सम्राट चक्रवर्ती (१२) ही **उत्तम पुरुष** गिने गए हैं, यद्यपि सभी चक्रवर्ती मोक्ष गमन नहीं करते, कुछ स्वर्गों में भी जाते हैं और कुछ तो नरकों में भी। तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों की अपेक्षा शेष शलाका पुरुषों (नव बलभद्र, नव नारायण तथा नव प्रतिनारायण) को **मध्यम पुरुष** कहा गया है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र सहित ८ बलभद्र मोक्ष सिधारे पर नारायण श्री कृष्ण के अग्रज नवें बलभद्र बलराम स्वर्ग ही गये। नारायण व प्रतिनारायण तो सभी नरकों में ही गये तथापि ये सब भी अल्प भवों में ही मोक्ष पद प्राप्त करेंगे। बलभद्र रामचन्द्र तथा नारायण श्रीकृष्ण तो अपने उदात्त गुणों व अलौकिक कृत्यों के कारण हिन्दू धर्म में भगवान विष्णु के अवतारों के रूप में ही स्वीकार कर लिये गये तथा हिन्दू मन्दिरों में इन्हीं की सर्वाधिक पूजा-उपासना की जाती है। पर जैन मन्दिरों में तो केवल तीर्थंकर महाप्रभुओं की ही पूजा-उपासना करने की परम्परा रही है, अन्य किसी शलाका पुरुष की नहीं, चाहे उसने मोक्ष गमन ही क्यों न किया हो।

स्व० आचार्य देश भूषण म० ने अपने **णमोकार ग्रन्थ** में ६३ शलाका पुरुषों के अतिरिक्त १०६ अन्य विशेष पुण्य शाली पुरुषों का भी वर्णन किया है जो या तो उसी भव से मोक्ष गये हैं या उनका संसार भ्रमण अल्प रह गया है। ये हैं कुलकर (१४), तीर्थंकर

भगवन्तों के माता-पिता (४८), नारद (९), रुद्र (११) तथा कामदेव (२४)। कामदेवों में अधिक विख्यात हैं भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली, तीर्थंकर-चक्रवर्ती भ० शान्तिनाथ, कुंथनाथ व अरहनाथ, चक्रवर्ती सनत्कुमार, राम-भक्त हनुमान, नारायण श्रीकृष्ण के जनक वसुदेव तथा पुत्र प्रद्युम्न, लोक कथाओं के सुप्रसिद्ध नायक राजा श्रीपाल तथा अन्तिम केवली श्री जम्बू स्वामी। अधिकांश कामदेव मोक्ष गए पर सभी नहीं, कम से कम चक्रवर्ती कामदेव सनत्कुमार तो नहीं—आचार्य देशभूषण म० ने अपने उपरोक्त ग्रंथ के पृष्ठ ३०८ पर उनके स्वर्ग गमन का उल्लेख किया है। **निर्वाण काण्ड** में तो दस कामकुमारों का ही सिद्धवर कूट से मोक्ष गमन का उल्लेख किया गया है।

कामदेवों की ख्याति उनके अनुपम देह सौन्दर्य के आधार से ही नहीं है। देह सौन्दर्य तो ६३ शलाका पुरुषों का भी कम नहीं होता। सौधर्मेन्द्र सहस्र लोचनों से भी तीर्थंकर-शिशु के देह सौन्दर्य को निहारते नहीं अघाता। बाल श्रीकृष्ण (नारायण) के मन मोहक रूप सौन्दर्य का सरस वर्णन करते भागवत् पुराणकार तथा अनेकों भक्त कवि नहीं अघाए तथा उनका एक नाम ही मनमोहन पड़ गया। हमारी समझ में कामदेवों की ख्याति का प्रमुख आधार उनका नारी मन को मोह लेने वाला अद्भुत यौन आकर्षण तथा काम कला में असाधारण निपुणता ही विशेष रूप से रहा होगा। संघदास गणि के सुप्रसिद्ध प्राकृत भाषा के काव्य ग्रन्थ **वसुदेव हिण्डि** में नारायण श्रीकृष्ण के पिता कामदेव वसुदेव के काम विजय भ्रमणों का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। एक अन्य कामदेव चम्पा के राजा श्रीपाल ने कुष्ट-रोग-निवृत्ति के उपरान्त अपने केवल १२ वर्ष के परिभ्रमण काल में ही ८००० सुन्दरियों को पत्नी रूप में बटोर लिया था। (देखें, **णमोकार ग्रन्थ**, पृष्ठ ३९६)।

जैन मन्दिरों में तीर्थंकर देवों के प्रतिबिम्बों को ही विराजमान कर उनकी पूजा उपासना उन्हीं के पावन गुणों की प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है। जैन मन्दिर भगवान के समवशरण के तथा

वेदी गंध कुटी की प्रतीक मानी जाती है जिसमें **पद्मासन** से विराजमान हो कर तीर्थंकर महाप्रभु अपना सर्वोदयी धर्मोपदेश देते हैं। वस्तुतः ध्यान, साधना, एकाग्रता, उपासना की दृष्टि से एक वेदी में एक ही तीर्थंकर प्रतिमा विराजमान करना हितकर है। जैन मन्दिरों को प्रतिमाओं के संग्रह ग्रहों में परिणत करना कहां तक उचित है, हमारे पूज्य आचार्यों एवं विद्वान मनीषियों को इस पर गंभीरता पूर्वक विचार कर मार्ग-दर्शन देना चाहिए।

हम नहीं समझ पा रहे हैं कि कामदेवों के मन्दिर की स्थापना से हमारे पूज्य आचार्य, मुनिराज, समाज को क्या सन्देश देना चाहते हैं या जैन संस्कृति के किस अनबूझे पक्ष को उजागर करना चाहते हैं। हमने पूज्य आचार्य श्री भरत सागर म० को पत्र लिखकर अपनी जिज्ञासा के समाधान का निवेदन किया था जिसके उत्तर में शिखर जी आ कर चर्चा करने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ था किन्तु स्वास्थ्य की अनुकूलता न रहने के कारण शिखर जी जा कर आचार्य श्री के दर्शन करने में हमें अपनी असमर्थता सूचित करनी पड़ी।

दिगम्बर जैन आम्नाय के भट्टारकीय युग में जैन मन्दिरों में क्षेत्रपाल व शासन देवी-देवताओं की मूर्तियों की स्थापना और पूजा-उपासना के साथ जिस बीस-पन्थी परम्परा का विकास हुआ, उसमें भी कामदेवों के मन्दिर की स्थापना से एक नया अध्याय जुड़ गया है।

विमल समाधि मन्दिर—साधु मन्दिर

तीर्थराज सम्मेद शिखर की तलहटी मधुबन में तीस-चौबीसी मन्दिर के साथ इस महामन्दिर की योजना के स्वप्न दृष्टा स्व० आचार्य श्री विमल सागर म० के समाधि-स्थल पर उनके समाधि मन्दिर का भी निर्माण किया गया है जिसके एक कक्ष में आचार्य श्री की आशीर्वाद मुद्रा युक्त वात्सल्यमयी प्रतिमा तथा दूसरे कक्ष में उनके चरण स्थापित किये गये हैं। २५ अप्रैल को समाधि स्थल की शुद्धि की जाने के बाद क्रमशः १४ व १५ लाख की ढाक लेने वाले दान वीरों द्वारा प्रतिमा व चरणों की विधिवत् स्थापना कर दी गई।

तीस-चौबीसी मन्दिर के धार्मिक कार्यक्रमों के प्रमुख वक्ता रहे, शास्त्रि परिषद के विद्वान अध्यक्ष प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी ने हमें बताया कि वहां एक साधु मन्दिर भी बनाया गया है जिसमें मुनिराज आदिसागर अंकलीकर महाराज सहित उनकी शिष्य परम्परा के सात आचार्यों/मुनिराजों की प्रतिमाएं अलग-अलग वेदियों में विराजमान की गई हैं।

प्राचार्य जी ने अपने लेख "पंच कल्याणक महोत्सव—एक पुनर्मूल्यांकन" में साधु मूर्तियाँ स्थापित किये जाने के विषय में अपने उद्‌गार निम्न प्रकार प्रकट किये हैं—

"आगम में साधु की तदाकार मूर्ति का निषेध किया गया है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों के चरण चिन्ह तो मिलते हैं, मूर्तियां नहीं। जहां व्यक्ति विशेष का आकार होता है उसे मूर्ति नहीं, स्टेच्यू कहते हैं। स्टेच्यू की प्रतिष्ठा और पूजा का विधान हमारे देखने में नहीं आया। हां, किसी सार्वजनिक स्थान पर स्टेच्यू भी लगाये जा सकते हैं और उनसे प्रभावना भी हो सकती है किन्तु ऐसे स्थानों पर उनकी सुरक्षा करना समाज का विशेष दायित्व बन जाता है। सार्वजनिक स्थानों पर लगाये गये राजनेताओं के स्टेचुओं की विरोधी लोगों द्वारा अवमानना किया जाना आये-दिन देखने में आता है। आचार्य नेमिचन्द्र तथा पंडित आशाधर के प्राचीन प्रतिष्ठा-पाठों में आधुनिक आचार्यादिक में पूर्वाचार्यों के समान गुणों का अवलोकन कर उनके चरण युगल या चरण पादुका स्थापित करने का ही विधान किया गया है। **दिवंगत एवं विद्यमान साधुओं की मूर्तियां** स्थापित करने का यह प्रसंग नया है।"

श्री नीरज जैन (सतना) ने भी समाधि-मन्दिर के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए अपनी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार व्यक्त की है—

"सम्मेदाचल हमारा शाश्वत सिद्ध क्षेत्र है जहां से वर्तमान काल में भी २० तीर्थंकरों सहित अनेकों महामुनि मोक्ष गये, और भी अनेकों ने तपस्या कर सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण किया, परन्तु किसी भी मुनिराज की मूर्ति स्थापित नहीं हुई। इस शाश्वत सिद्ध-

क्षेत्र पर पंचम काल के मुनिराज का समाधि मन्दिर बना कर और उनकी मूर्ति स्थापित करके हम भले ही अपनी गरिमा बढ़ा रहे हों पर सिद्ध-क्षेत्र की गरिमा में तो कोई वृद्धि होगी नहीं ।

हम भी इन दोनों विद्वानों की उपर्युल्लिखित वैचारिक प्रतिक्रिया का पूर्ण अनुमोदन करते हैं । जैन धर्म में तीर्थंकर देवों की ही पूजा-उपासना का विधान है । उपासक जैन मन्दिर को भगवान के समवशरण का प्रतीक मान कर तथा उसमें विराजमान की गई तीर्थंकर प्रतिमा में सर्व कल्याणकारी सर्वोदयी धर्मोपदेशरत जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब की स्थापना मान कर उन्हीं के गुणों की प्राप्ति की कामना से उनकी पूजा-उपासना करता है । मोक्षगमन तो जम्बू स्वामी पर्यन्त अनेकों महामुनियों ने किया, किन्तु संसारी प्राणियों पर विशेष उपकार तो तीर्थंकर देवों की दिव्य ध्वनि गिरने से ही हुआ । अतः जैन मन्दिरों में उन्हीं की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब विराजमान करने की दिगम्बर जैन धर्म में परम्परा रही है । मोक्ष गमन कर सिद्ध भगवान हुए महामुनि तथा समाधि-मरण कर स्वर्गलोक गमन करने वाले अन्य मुनिराज भी हमारी श्रद्धा व प्रेरणा के केन्द्र हैं पर उनके केवल चरण ही और वह भी मुख्यतया उनके मोक्ष-स्थल या समाधि-स्थल पर ही स्थापित करने की प्राचीन परम्परा है । वर्तमान में "मन्दिर" शब्द का दिगम्बर जैन समाज में 'जैन मन्दिर' के अर्थ में रूढ़ होकर प्रयोग होता है । ऐसे में कामदेव मन्दिर, समाधि मन्दिर, साधु मन्दिर (प्रतिमाओं सहित) स्थापित करना बड़ा विचित्र लगता है । इनकी स्थापना से दिगम्बर जैन आम्नाय में एक नई परम्परा का प्रारम्भ किया गया है जिसका भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा शोधित एवं विकसित मूल संघ की प्राचीन परम्पराओं से प्रकटतः कोई मेल नहीं मालूम पड़ता । ये तो दिगम्बर जैन धर्म के वैष्णवीकरण की ओर बढ़ते जैसे कदम लगते हैं । हमारा आगम ज्ञान अत्यल्प है, हम आगमों के सुविज्ञ अध्येताओं से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे आगमों के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर अपना मार्गदर्शन दें ।

अब चूंकि भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव वर्तमान के कतिपय महामुनियों द्वारा असामयिक एवं अप्रासंगिक (out of date, obsolete) समझे जाने लगे हैं, मंगल श्लोक में उनके स्थान पर आज के किसी महाप्रभावक महान् आचार्य का नाम रख उनसे मंगल आशीर्वाद की कामना किया जाना कदाचित् अधिक समीचीन होगा । ★

अभिनन्दन

श्रीमती सरोज जैन (धर्मपत्नी डा० प्रेम सुमन जैन) को १४वीं शती के अपभ्रंश कवि लखमदेव की अप्रकाशित कृति **णेमिणाहचरिउ का सम्पादन एवं सांस्कृतिक अध्ययन** विषयक शोध-प्रबन्ध पर सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर, ने पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की।

पं० मुकेश कुमार जैन शास्त्री, विदिशा, (सम्पादक, ज्ञान-धारा) को उनके शोध-प्रबन्ध **कानजी स्वामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व : एक साहित्यिक मूल्यांकन** पर बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, ने पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की।

श्रीमती वन्दना जैन (श्रवणबेलगोल) को शोध-प्रबन्ध **आचार्य जोइन्दु (योगीन्दु) : एक अनुशीलन** पर डा० हरि सिंह गौर विश्व-विद्यालय, सागर, ने पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की।

साध्वी स्मितप्रज्ञाश्री को प्रो० डा० रमणिक भाई शाह के मार्ग निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध **युग प्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी का जैन धर्म एवं साहित्य में योगदान** पर गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, ने पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की।

जैन विद्या अनुसन्धान प्रतिष्ठान, चेन्नई, के सचिव **श्री दुलीचन्द जैन 'साहित्य-रत्न'** को युनाइटेड राइटर्स एसोसियेशन, चेन्नई, द्वारा **साहित्य-सेवा उपलब्धि पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी द्वारा **डा० रतनचन्द जैन**, भोपाल, को उनकी कृति **जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन** पर **महावीर पुरस्कार**, **पं० निहाल चन्द जैन** को उनकी कृति **नैतिक आचरण** पर **ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार** तथा **श्री सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'** को उनकी शोध कृति **पासणाह चरिउ** पर **स्वयंभू पुरस्कार** प्रदान किये गये।

नई दिल्ली में **एयर मार्शल श्री पी० के० जैन** को **जीवन विज्ञान पुरस्कार** जैन विश्व भारती द्वारा प्रदान किया गया।

डा० नेमीचन्द बी० छाजेड़ (संचालक, महावीर इन्टरनेशनल केन्द्र, मुम्बई) को उनके द्वारा मुम्बई तथा ठाणे-रायगढ़-नासिक क्षेत्र के दलित पीड़ित समाज के उत्थान में दिये गये योगदान हेतु महाराष्ट्र सरकार द्वारा **डा० बाबा साहेब अम्बेडकर दलित मित्र पुरस्कार** प्रदान किया गया।

श्री श्याम सुन्दर लाल शास्त्री श्रुतप्रभावक न्यास फिरोजाबाद द्वारा **महाकवि रइधू पुरस्कार** तलस्पर्शी स्वाध्यायी विद्वान **पं० शिव-चरन लाल जैन** (मैनपुरी) को प्रदान किया गया।

पार्श्व-ज्योति के सम्पादक **डा० रमेश चन्द्र जैन** को उनकी कृति **दिगम्बरत्व की खोज** पर उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने पुरस्कृत करने का निर्णय लिया है।

श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोल में **डा० पन्ना लाल जैन (सागर), डा० गोकुल चन्द जैन (आरा), श्री रघुचन्द्र शेट्टि (पेराडि बीडु)** तथा **श्रीमती एस० पी० शान्तम्मा (धारिणी देवी)** को **श्री गोम्मटेश्वर विद्यापीठ पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

पुरातत्वज्ञ, स्थापत्यविद एवं इतिहासकार **डा० मधुसूदन ढाकी** को उनके विशिष्ट योगदान हेतु श्री हेमचन्द्राचार्य ट्रस्ट, अहमदाबाद द्वारा **हेमचन्द्राचार्यचन्द्रक** (स्वर्ण पदक) से सम्मानित किया गया।

अहिंसक चिकित्सा-पद्धति विशेषज्ञ श्री चंचलमल चोरड़िया (जोधपुर) को वैकल्पिक चिकित्सा के क्षेत्र में किये गये उल्लेखनीय योगदान हेतु बीकानेर में विश्व स्वास्थ्य दिवस पर **इंशोर १९९८-१९९९** सम्मान से विभूषित किया गया।

मास्टर आयुष जैन (सुपुत्र श्री विनीत जैन, प्रेमपुरी, मेरठ) ने १ नवम्बर, १९९८ को मात्र ढाई वर्ष की आयु में ५ कि०मी० रोड स्केटिंग करके विश्व कीर्तिमान बनाया। उन्हें आन्ध्र प्रदेश में आयोजित **राष्ट्रीय रोलर स्केटिंग चेम्पियनशिप-९८** में भारत का सबसे कम आयु का राष्ट्रीय खिलाड़ी घोषित किया गया।

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी के देवलोकगमन पर ९ जून को अहमदनगर में युवाचार्य श्री शिवमुनि म० का श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर के रूप में पदारोहण हुआ।

नई दिल्ली के प्रसिद्ध समाजसेवी श्री हंस कुमार जैन को इन्टरनेशनल जैन एवं वैश्य आर्गेनाइजेशन ने 'समाज शिरोमणि' सम्मान से विभूषित किया।

संगीत निर्देशक श्री सुभाष चन्द्र जैन 'पंकज' (मथुरा) को बड़ौत में जैन शिक्षण संस्थाओं की हीरक जयन्ति पर सम्मानित किया गया।

कन्नड भाषा में ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रणेता, प्रख्यात साहित्यकार **प्रो० जी० ब्रह्मप्पा** को उनके कन्नड उपन्यास **सम्राट खारवेल** पर जनवरी में भुवनेश्वर (उड़ीसा) में हुए खारवेल महोत्सव में ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली द्वारा पुरस्कार और **इतिहास-रत्न** की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया गया। उक्त उपन्यास कर्नाटक प्रदेश में स्कूली पाठ्यक्रम में सम्मिलित है।

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा १९९८ में आयोजित केन्द्रीय सिविल सेवा परीक्षाओं के आधार पर सर्वश्री आनन्द जैन, शोभित जैन, सचिन जैन तथा संदीप जैन आई० ए० एस० आदि में चयनित हुए हैं।

उपरोक्त सभी को उनकी उपलब्धि पर **शोधादर्श** परिवार हार्दिक बधाई और शुभकामना प्रेषित करता है।

समाचार विविधा

आर्य भद्रबाहु एवं उनका साहित्य विषयक संगोष्ठी

१० एवं ११ अप्रैल, १९९९, को अहमदाबाद में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि द्वारा 'आर्य भद्रबाहु एवं उनका साहित्य' विषय पर विद्वत्संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें डा० मधुसूदन ढाकी, प्रो० सागरमल जैन, डा० एस० आर० बनर्जी, डा० आर० चन्द्र, डा० जे० बी० शाह, डा० धर्मचन्द जैन सहित अनेक विद्वानों ने आर्य भद्रबाहु, छेदसूत्र, निर्युक्ति, उनके काल, विषय-वस्तु आदि पर शोध-पत्र पढ़े।

इन्साइक्लोपीडिया जैनिका

श्री दिगम्बर जैन सिद्धोदय रेवातट सिद्धक्षेत्र नेमावर (देवास) (मध्य प्रदेश) में २२ अप्रैल को श्री आचार्य विद्यासागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में "सर्वोदय जैन विद्यापीठ" के तत्वावधान में संकलित होने वाले "इन्साइक्लोपीडिया जैनिका" एवं "जैन विद्या विश्वकोश" परियोजना का शुभारम्भ एक कार्यशाला के रूप में हुआ। परियोजना के अकादमिक संयोजक एवं प्रशासक डॉ० वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ, ने मंगलाचरण के बाद इस पूरी परियोजना के महत्व तथा अकादमिक पक्ष की जानकारी दी। आपने बताया कि यह परियोजना अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों के अनुरूप होगी और हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं में कोश प्रकाशित होगा। इस विश्वकोश में जैन धर्म व संस्कृति से सम्बन्धित प्रत्येक विन्दु को समाहित करने का पूर्ण यत्न किया जायेगा।

डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, डॉ० कुसुम पटोरिया व डॉ० पुष्प लता जैन (नागपुर), डॉ० शीतल चन्द्र जैन (जयपुर), डॉ० रतन चन्द्र जैन, डा० एस० के० जैन व डा० जिनेन्द्र कुमार जैन (भोपाल), डा० नन्द लाल जैन (रीवा), पं० शिव चरण लाल शास्त्री (मैनपुरी), डॉ० फूलचन्द्र जैन "प्रेमी" (वाराणसी), डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन (श्रावस्ती), डॉ० अनुपम जैन (इन्दौर), डॉ० अभय प्रकाश जैन व डा० देवेन्द्र कुमार जैन (ग्वालियर), श्री वीरेन्द्र प्रसाद जैन (अलीगंज-एटा), और श्रीमती संध्या जैन, कु० पत्रिका जैन, श्री प्रदीप पाटनी, श्री अवकाश सिंह चौहान व श्री पवन कुमार (लखनऊ) ने कार्यशाला में भाग लिया।

अष्टपाहुड वाचना

वाराणसी में भेलूपुर स्थित श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ जिनालय में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के तत्वावधान में आचार्य कुन्दकुन्द विरचित **अष्टपाहुड** की १० मई से ४० दिन तक वाचना की गई। विद्वत् परिषद के संयुक्त मन्त्री और वाचना के संयोजक डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' ने वाचना के महत्व

पर प्रकाश डाला। प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने अष्टपाहुड में प्रतिपादित विषय का विवेचन किया। डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ० महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज', डा० सागर मल जैन तथा अन्य विद्वानों का इस वाचना में पूरा सहयोग रहा।

महानिदेशक भारतीय पुरातत्त्व सर्वे की जैन समाज से अपील

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ब्यूरो के महानिदेशक श्री अजय शंकर ने जैन समाज से अपने प्राचीन पुरातत्त्व वैभव के स्वरूप को अक्षुण्ण रखने की अपील की है। देश में लगभग ३०,००० ऐसे स्मारक हैं जिनमें कई जैन तीर्थक्षेत्र भी हैं जिनका संरक्षण करना उनके लिये सम्भव नहीं है और निजी सामाजिक संस्थाओं द्वारा यह संरक्षण किया जाना चाहिये। परन्तु संरक्षण के नाम पर नवीनीकरण करना, मार्बल और ग्रेनाइट लगाकर उसके प्राचीन स्वरूप को बदल देना—यह पुरातत्त्व के साथ अन्याय है और इसकी इजाजत नहीं दी जायेगी। संरक्षण कार्य में यदि जैन समाज तकनीकी परामर्श चाहे तो पुरातत्त्व विभाग उसे प्रदान करने के लिये तैयार है परन्तु संरक्षण किसी भी स्मारक को स्ट्रक्चरल मजबूती प्रदान करने के लिये ही होना चाहिये। धरोहर राशि लेकर यह कार्य स्वयं पुरातत्त्व विभाग भी कर सकता है।

तीर्थक्षेत्र प्रबन्धन प्रशिक्षण संस्थान

तीर्थक्षेत्रों के प्रबन्धन, सुरक्षा, यात्रियों से व्यवहार एवं धार्मिक कार्यों के बारे में प्रशिक्षण देकर प्रबन्धक, पुजारी और सुरक्षा कर्मचारी तैयार करने हेतु सिद्धक्षेत्र **द्रोणगिरि जी**, जिला छतरपुर (म० प्र०), में एक **दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र प्रबन्धन प्रशिक्षण संस्थान** स्थापित किया गया है।

जैन समुदाय वेबसाइट पर

प्रो० प्रदीप फलटणे (इन्स्टीट्यूट फॉर जैन सोशल स्टडीज, १६३, यशवन्त नगर, तलेगांव स्टेशन, पुणे) ने अवगत कराया है कि पत्रकार श्री महावीर सांगलीकर और इन्टरनेट विशेषज्ञ श्री राहुल कोचेटा द्वारा निर्मित वेबसाईट का उद्देश्य विश्व भर के जैन समुदाय

में सम्पर्क सेतु का काम करना है। इसके प्रमुख आकर्षण बिन्दु हैं—जैन निर्देशिका जिसमें विश्व भर की प्रमुख जैन संस्थाओं, संगठनों और पत्र-पत्रिकाओं के पते दिये गये हैं, जैन विवाह सूचना सेवा जहां से आप विवाह योग्य उच्च शिक्षा प्राप्त जैन युवक-युवतियों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और जैन पत्र मित्रता जहां आप नये मित्र बना सकते हैं। इस वेबसाईट पर जैन चैट रूम की भी सुविधा है जहां उपस्थित लोगों से आप घर बैठे बातचीत कर सकते हैं। वेबसाईट का यू. आर. एल. है—

http://jainfriends. faithweb. com
email:jainfriends @ hotmail. com

शंकायें भेजें

७७-वर्षीय प्रतिष्ठाचार्य पं० गुलाब चन्द्र 'पुष्प' के अभिनन्दन ग्रन्थ के संपादक डा० कपूर चन्द जैन (खतौली) ने ग्रन्थ में जैन विधि-विधान, प्रतिष्ठा, इतिहास-पुरातत्त्व, ज्योतिष, प्रतिमा-निर्माण, वास्तुशिल्प और वास्तुविद्या आदि विषयों से सम्बन्धित सार्वजनिक शंकाओं का समाधान पण्डित जी से करा कर शंकाकार के नाम सहित प्रकाशित किये जाने का निश्चय किया है। शंका—पं० गुलाब चन्द्र 'पुष्प' अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, टीकमगढ़-४७२००१—को भेजें।

डा० हीरालाल जैन जन्म शताब्दी

प्राच्य विद्याचार्य डा० हीरालाल जैन (५-१०-१८९९—१३-३-१९७२) का जन्म शताब्दी समारोह ५ अक्टूबर १९९९ से ५ अक्टूबर २००० तक मनाया जायेगा और समापन कार्यक्रम में **डा० हीरालाल जैन स्मृति ग्रन्थ** का विमोचन होगा। स्मृति ग्रन्थ के लिए डा० हीरा लाल जी के व्यक्तित्व से सम्बन्धित तथा उनकी कृतियों पर समीक्षात्मक एवं उनकी चिन्तन धारा के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित सामग्री—श्री ज्ञानरंजन, संयोजक, डा० हीरालाल जैन स्मृति ग्रन्थ, प्रदीप भवन, अग्रवाल कालोनी, जबलपुर-४८२००२—को भेजी जाये।

शोक संवेदन

११ जनवरी, १९९९, को लखनऊ में अनन्त-ज्योति विद्यापीठ द्वारा सम्मानित ८२-वर्षीय लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं दर्शन-शास्त्री **डा० नन्द किशोर देवराज** का निधन हो गया।

मार्च माह में लाडनूं में शोध पत्रिका **तुलसी-प्रज्ञा** के सम्पादक **डा० परमेश्वर सोलंकी** का देहावसान हो गया।

१९ अप्रैल को सदाशिवनगर (महाराष्ट्र) में **वयोवृद्ध बाल ब्रह्मचारी श्री हीरालाल खुशालचन्द्र दोशी** जो **धर्म मंगल** के संरक्षक थे, हमारे बीच नहीं रहे।

२६ अप्रैल को मुम्बई में श्रमणसंघीय **आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि** का देवलोक गमन हो गया।

२४ मई को दिल्ली में भा० दि० जैन संघ मथुरा के पूर्व व्यवस्थापक एवं **जैन सन्देश** के भू० पू० सम्पादक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान **पं० बलभद्र जैन** का स्वर्गवास हो गया।

२५ मई को आगरा में **जैन गजट** के प्रधान सम्पादक फिरोजाबाद निवासी ८३-वर्षीय विद्वान **पं० श्याम सुन्दर लाल शास्त्री** का निधन हो गया।

२८ जून को लखनऊ में ८६-वर्षीय सुश्रावक **बा० जगजोत सिंह जैन,** जिन्हें गत वर्ष ११ जून को अनन्त-ज्योति विद्यापीठ द्वारा सम्मानित किया गया था, का देहावसान हो गया।

मई-जून-जुलाई में भारत-पाक सीमा पर करगिल क्षेत्र में पाकिस्तानी आक्रमणकारियों का प्रतिकार करते हुए भारत माता के अनेक सपूत वीरगति को प्राप्त हुए और अनेक क्षत-विक्षत हुए।

उपरोक्त सभी दिवंगत के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता है और उनकी आत्मा की चिरशांति एवं सद्‌गति के लिये प्रार्थना करता है, तथा उनके स्वजनों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है, एवं जो सैनिक घायल हुए हैं उनके शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ की कामना करता है।

आभार

श्री ताराचन्द जैन अग्रवाल, पचेवर (टोंक), द्वारा अपने पिता श्री पांचूलाल जैन तथा माता श्रीमती कपूरी देवी की पुण्य स्मृति में बीस-बीस रुपये **शोधादर्श** को दान स्वरूप भेंट किये गये।

इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन 'विद्यावारिधि' की ११वीं पुण्य तिथि पर डा० शशि कान्त व श्री रमा कान्त जैन द्वारा **शोधादर्श** को ५१ रुपये भेंट किये गये।

अपने पिता श्री विद्या विनोद काला, जयपुर, की प्रथम पुण्य तिथि (२१ जुलाई) पर उनकी स्मृति में सर्वश्री विवेक, आलोक, अजय और संजय काला द्वारा **शोधादर्श** को ५०० रुपये भेंट किये गये।

पाठकों की दृष्टि में

शोधादर्श-३७, मार्च १९९९, का अंक मिला। पढ़ कर मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कई लेख शोधात्मक और विवेचनात्मक स्तर पर उल्लेखनीय हैं। **शोधादर्श** में अब तक प्रकाशित लेखों में से कुछ लेख चुन कर पुस्तकाकार प्रकाशित हों तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।

—**डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी**, सांसद, नई दिल्ली

आपकी पत्रिका केवल गूढ़ लेखों का संयोजन मात्र न होकर वर्तमान में होने व घटने वाले सभी पहलुओं को छूती है। 'पदवियों की मर्यादा' तथा 'सेलोफोन' आदि से मैं पूर्णत: सहमत हूँ। सस्ती लोकप्रियता व धन की प्राप्ति हेतु समाज को दिशा दिखाने वाले ही दिशा विहीन से दृष्टिगोचर होते हैं। ईश्वर हमारी रक्षा करे।

—**श्री कपिल कुमार जैन**, मेरठ

पत्रिका यथानाम तथा गुणानुरूपा है। सभी लेख स्तरीय हैं। 'दोषाणां कारणं मद्यम्'—द्वारा लेखक ने समस्त मानव जाति को मद्यपान के अभिशाप से बचाने का भरपूर प्रयास किया है। 'पदवियों की मर्यादा का भी ध्यान रखें'—सम्पादकीय, आज के पदवी वितरण

कर्ताओं के अतिरेक को चिन्तन के बिन्दु प्रदान करता है। डॉ० रञ्जन कुमार ने योग-परम्परा का वर्णन अत्यन्त विद्वत्ता के साथ प्रतिपादित किया है। डॉ० (श्रीमती) जैनमती जैन, श्री पन्नालाल जैन और श्रीमती वासन्ती शाह द्वारा प्रतिपादित विषय सामग्री भी ज्ञानवर्द्धक एवं अत्युपयोगी है।

—**श्री लाल चन्द्र जैन "राकेश"**, गंज बासोदा (विदिशा)

अंक स्वागत योग्य होते ही हैं। कलकत्ते का **दिशा-बोध** भी हिम्मत के साथ बढ़ रहा है। समर्पण भाव से कार्य करने वाले ही समाज में निर्भीकता से कदम बढ़ा सकते हैं, आर्थिक या यश लाभ के लिए काम करने वाले कभी धर्म-प्रचार में सफल नहीं होते। आप अपने पिताजी के पद चिन्हों पर चल रहे हैं—यह सन्तोषदायक है। भाई अजित प्रसाद जी का सन्देश भी मिला है। उनका स्वास्थ्य ठीक रहे, ऐसी कामना है—ऐसी विभूतियां भाग्य से ही मिलती हैं।

—**पं० पद्मचन्द शास्त्री**, सं० **अनेकान्त**, नई दिल्ली

शोधादर्श वास्तव में शोध का आदर्श रूप है। चाहे आलेख हों, चाहे टिप्पणी युक्त समाचार अथवा अन्यत्र प्रकाशित लेखों पर बेबाक टिप्पणी। सभी में आपका श्रम झलकता है। अंक ३७ को पढ़ना स्वाध्याय समान बोधपूर्ण है।

—**श्री राजेन्द्र नगावत**, सं० **रत्नराज** (नोयडा),
संस्थान समाचार (मुंबई) व **तपोधन** (भीलवाड़ा), इन्दौर

शोधादर्श की प्रतीक्षा रहती है। सभी लेख बहुत शोधपूर्ण और मननीय होते हैं। अष्टापद जी······कैलाश मानसरोवर के बारे में कुछ लिखने वाली···पूछने वाली ही थी और article हस्तगत हुआ। पूरे चाव से सब कुछ पढ़ा जाता है।

—**श्रीमती सुधा बेन शेठ**, राजकोट

भगवान ऋषभदेव जी की निर्वाण स्थली से सम्बन्धित विचार धारायें/कथन पढ़े, लेकिन आपने उसके समाधान में अपनी बात नहीं कही। यह विवादग्रस्त बन गया है। मैं अभी-अभी बद्रीनाथ जी से आया हूं, वे इसे प्रतीकात्मक बताते हैं। कैलाश ही भगवान की निर्वाण

भूमि है। सम्पादकीय बहुत बढ़िया और सटीक है। चाटुकारिता ही आज प्रभावशाली बनी हुई है।

–श्री सुन्दर सिंह जैन, सह सं० **वीर**, देहली

आपके प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। पत्रिका के द्वारा सत्य निर्भीक विचार देना इस समाज के दूषित वातावरण में अति कठिन है। आज साधु वर्ग, पंडित वर्ग और श्रेष्ठि वर्ग मनमानी पर तुले बैठे हैं। परिग्रह त्याग करके फिर भी पेटी भरने लगते हैं, करोड़ों-करोड़ों की स्कीम रहती है। पण्डितों को मान करा कर पैसा दे मुंह बन्द कर अपनी बड़ाई कराई जाती है। भ्रष्ट मठाधीश ने एकान्त-वादियों को अपनी गोद में बैठा लिया है। समाज के दो टुकड़े करा दिये हैं। चौथे काल के मुनि ने तीन लेखकों को फतवा दिया, उन्होंने गिड़गिड़ाकर माफी मांगी। आपके तीनों लेख सटीक हैं—वैसे पत्रिका में हमेशा की तरह डा० शशि कान्त व रमा कान्त सभी के लेख सारगर्भित होते हैं।

–श्री महावीर प्रसाद जैन सर्राफ, नई दिल्ली

लेख सामग्री एवं सम्पादन कला सुन्दर एवं सराहनीय है। अच्छे विद्वान लेखकों का आपने संकलन रखा है।

–श्री तिलोक मुनि, राजकोट

शोधादर्श न केवल जैन संस्कृति बल्कि समग्र भारतीय संस्कृति को समझने, जानने एवं विचार करने की अनूठी शोधपरक सामग्री प्रस्तुत करके शोध पत्रिका के क्षेत्र में अपना अलग स्थान प्राप्त करने में सफल रहा है।

–डा० रज्जन कुमार, बरेली

इस स्तरीय और उपादेय अंक में 'गुरुगुण-कीर्तन', 'दोषाणां कारणं मद्यम्', 'योग परम्परा', 'कबीर साहित्य में जैन अध्यात्म की झलक', Man Made God, 'जैन परम्परा में देव समूह' प्रभृति लेख सारगर्भित होने के कारण पठनीय हैं। 'ॐ—एक विमर्श' अत्यन्त संक्षिप्त एवं अपर्याप्त लगा। इसमें अभी और चिन्तन पूर्ण विवेच्य सामग्री का समावेश अपेक्षित है। आपका सामयिक चिन्तन

सम्पादकीय—'पदवियों की मर्यादा का भी ध्यान रखें' व्यावहारिक दृष्टि से सटीक और उपयुक्त विवेचन है। 'अपनी पीड़ा का भी तुम उपचार करोगे' शीर्षक कविता सहृदय संवेद्य तथा सरस है। 'विचार-बिन्दु' तथा 'चिन्तन कण' जैसे इन्द्रधनुषी स्तम्भों से अंक की उपादेयता तथा स्पृहणीयता स्वतः सम्वर्धित है।

—**डॉ० कैलाश नाथ द्विवेदी**, कोंच (जालौन)

डॉ० रञ्जन कुमार का लेख 'योग-परम्परा' अत्यधिक परिश्रम करके लिखा गया है। योग तो भारतीय तत्त्व वेत्ताओं, मनीषियों तथा साधकों की विश्व को अद्भुत देन है। इसे सभी धर्मों ने किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। आधुनिक चिकित्सा-क्षेत्र में भी योग की महत्ता को स्वीकार किया गया है। 'पातंजल योग-दर्शन' के विभूति पाद में तो योग की विलक्षण उपलब्धियों का भी उल्लेख है।

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का लेख 'दोषाणां-कारणं मद्यम्' अक्षरशः सत्य है, परन्तु आधुनिक युग में जहां सरकार शराब के ठेकों की नीलामी करती हो मद्य-निषेध का नारा एक ढकोसला बनकर रह गया है। तथापि मद्य-पान के दुष्परिणाम सर्व विदित हैं।

'कबीर-साहित्य में जैन-अध्यात्म की झलक' बहुत तर्क संगत नहीं लगा। कबीर ने धर्म के क्षेत्र में ढोंग, पाखण्ड तथा आडम्बर का विरोध किया है, परन्तु उनका एकेश्वरवाद और निर्गुण उपासना भारतीय सनातन धर्म से पृथक की वस्तु नहीं है। कबीर ने स्वयं अपने विषय में लिखा है—

'कासी में हम प्रगट भये रामानन्द चेताये'

कबीर किसी एक पन्थ के नहीं, सभी के थे। सारा संसार उन्हें श्रद्धा से शीश झुकाता है।

डॉ० मनोहर भण्डारी ने 'प्रणव ओंकार' पर अच्छा लिखा है। 'छन्दः स्फोट' की परिकल्पना के अनुसार अव्यक्त ब्रह्म जब प्रथम बार अपने व्यक्त रूप में सामने आया तो नाद व्रह्म के रूप में और यहीं से छन्द अथवा उद्गीथ (ओंकार) का जन्म हुआ।

शोधादर्श के प्रायः सभी लेखक-लेखिकायें विस्तृत अध्ययन के उपरान्त लिखते हैं। उनके परिश्रम, साहित्यानुशीलन तथा मन्थन की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। यह पत्रिका डॉ० ज्योति प्रसाद जैन के नाम को उजागर करने वाली ऐसी क्रान्ति-धर्मी पत्रिका है जो लेखकों तथा पाठकों में नीर-क्षीर विवेकिनी बुद्धि विकसित करने में रत है।

–डॉ० परमानन्द जड़िया, लखनऊ

आपने अपने सम्पादकीय—"पदवियों की मर्यादा का भी ध्यान रखें" में किये गए आह्वान को पूर्वतः भी अपने पाठकों के समक्ष रखा है; किन्तु यह विडम्बना ही चल पड़ी है कि आज शास्त्रोक/शास्त्र-सम्मत स्तरीय पदवियों का मखौल उड़ाया जा रहा है—उन महान पदवियों का अवमूल्यन करके। श्रीमती वासन्ती शाह का विचार-बिन्दु—"जैन पंथोपपन्थी बांधव अपनी भूमिका पर विचार करें" उनकी चिर-परिचित लेखनी के अनुरूप विचारोत्तेजक एवं मननीय है। आर्ष परम्परा के सजग प्रहरी पं० पद्‌मचन्द जी शास्त्री का लेख—"कैन्सर में तब्दील होती शौरसेनी की गांठ" अनेक लापरवाह विद्वानों (बल्कि कहें—तथाकथित विद्वानों) को विशुद्ध जैनत्व के प्रति अतिक्रमणवादियों की कुत्सित चालबाजियों के विरुद्ध भली प्रकार सजग करता है। वयोवृद्ध विद्वान श्री अजित प्रसाद जी द्वारा प्रकाशित परिचर्चा—"भ० ऋषभदेव की निर्वाण भूमि", सम्बन्धित प्रकरण के शोध-खोज की दिशा में स्तुत्य प्रयास है; हार्दिक भावना है कि शीघ्रताशीघ्र हमारे परम आराध्य भ० ऋषभदेव की निर्वाण की वास्तविक स्थिति सुस्पष्ट होकर हम सभी श्रद्धालुओं को हर्षोल्लास एवं आत्मिक आनन्द प्रदान करे। लेख—"जैन परम्परा में देव समूह" भी अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं मिथ्यात्व के परिचक्र में उलझ गये आज के जैन-जन-मानस को उस परिचक्र से निकालने में एक सहज बोधगम्य आह्वान है। "ॐ—एक विमर्श" जैसी विचार-बिन्दु प्रस्तुतियाँ भी प्रकारान्तर से जैन धर्म की अत्यन्त प्राचीनता को ही प्रमाणित करने एवं इस क्षेत्र में और भी बहुत कुछ कहने-जानने हेतु प्रेरित करती हैं तथा इस तथ्य की

दिशा बोधक हैं कि वस्तुतः जैनत्व के आराध्यादि स्रोतों को अन्य मतावलम्बियों द्वारा भी प्रकारान्तर से स्वीकारा गया है।

—श्री मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त', अलीगढ़

गुरुगुण-कीर्तन अंक के प्रारम्भ की विशेषता है। 'दोषाणां कारणं मद्यम्' में जैन धर्म नैतिकता एवं सदाचार प्रधान होकर प्राणीसंयम एवं इन्द्रियसंयम के आधार पर है, उल्लेख है। मैं समझता हूँ किसी भी धर्म के लिये नैतिकता व सदाचार आधार हैं। सम्पादकीय बहुत ही गम्भीर बात सामने रखती है। किसी उच्च-कोटि की उपाधि जो अनेक तपस्या का फल है यों ही साधारण तौर से प्रत्येक को दिया जाना व्यक्ति की गरिमा को कम करना है। क्या बतायें पर आधुनिक युग में सबसे बड़ा और सस्ता कार्य उपाधियां बांटना ही हो गया है। 'अन्धा बांटे रेवड़ी, अपने-अपने को देय' एक आम बात हो गयी है। आलेख 'योग परम्परा' ज्ञानवर्द्धक होकर चिन्तन मनन योग्य है। 'कबीर साहित्य में जैन अध्यात्म की झलक' में बेलाग बात कहने की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन हुआ है। 'जैन परम्परा में देव समूह' ज्ञानवर्द्धक जानकारी प्रस्तुत करता है। 'ॐ—एक विमर्श', Man Made God पर अपने-अपने ढंग से शास्त्रों ने विचार किया पर एक बात स्पष्ट है कि 'ॐ' व 'God' एक अद्भुत शक्ति है। जिसने आत्मिक अनुभव किया है उन्हें बड़ा सहारा मिला है—इनसे। 'जैन पंथोपपंथी बांधव अपनी भूमिका पर विचार करें' विचार-विन्दु विचारणीय है। हिन्दू संस्कृति में जैन, बुद्ध, सिख सभी की संस्कृति का समावेश है। जैन धर्म के पृथक अस्तित्व की बात में हिन्दू पानी, मुस्लिम पानी जैसी विभाजन की प्रवृत्ति लक्षित होती है। 'भगवान ऋषभदेव की निर्वाण भूमि' परिचर्चा बड़ी स्पष्ट और तथ्य परक है। श्री राजीव कान्त जैन एवं श्री वीरेन्द्र अंशुमाली की कविताएं प्रेरणास्पद होकर बहुत कुछ सोचने को बाध्य करती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सारी सामग्री अंक की शोभा बढ़ाती है—पठनीय है। 'प्राकृत विद्या' पत्रिका मेरे पास नियमित आती है। आपने जुलाई-सितम्बर ९८ के अंक के सम्बन्ध में जो

ध्यान खींचा है वास्तव में नवीन शोध का विषय है—जिस पर श्री सुदीप जी का ध्यान गया है। प्रायः सभी अंक महत्त्वपूर्ण होते है। दिगम्बर जैनाचार्य भट्टाकलंक देव की कथा वास्तव में विचित्र होकर बुद्धिमानी का अनूठा नमूना है।

—श्री मदन मोहन वर्मा, ग्वालियर

राजीव जी की कविता 'बहुत चले, अभी पर बहुत जाना है' में हृदय के भावों की अभिव्यक्ति अच्छी है। आपका चिन्तन कण 'निगंट्ठ नात्तपुत' भगवान महावीर के विरुद 'नाथ पुत्र' पर प्रकाश डालते हुए तथा प्रबुद्ध विद्वानों की विचार धारा सहित अच्छा चिन्तनीय है। भगवान श्री ऋषभदेव की निर्वाण स्थली अष्टापद है अथवा कैलाश पर्वत है, यह विचारणीय है, और आज तक जितना आपने इस पर लिखा है और कहीं देखने अथवा पढ़ने में नहीं आया है। अष्टापद नाम से तो ऐसा प्रतीत होता हैं जैसे कोई आठ पैर का जानवर हो। इस विषय में हमने कई बार विद्वानों से तथा पू० मुनिजनों से भी जानकारी चाही परन्तु कहीं से सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका था।

अभी हम ७ जून को बिजनौर-नहटोर से आगे बढ़ापुर कस्बा है उससे भी आगे जंगल में एक स्थान काशीवाला है जहां सरदार जसवन्त सिंह का फार्म है, गये थे। पता चला था कि वहाँ जैन मूर्तियाँ निकल रही हैं। वहाँ से कोटद्वार आदि की पहाड़ियाँ स्पष्ट दिख रहीं थीं। देखा कि एक टीला सा है जहाँ खुदाई कराई गयी थी। वहाँ पत्थर के बड़े-बड़े बीम जैसे पत्थर पड़े थे जिन पर जैन तीर्थंकर व यक्ष आदि के चित्र खुदे हुए थे। मूर्ति भी निकली थी जिसे कोई रात्रि में ले गया था। सरदार जी के घर में खण्डित मूर्ति तथा खण्डित चरण तथा एक देवी प्रतिमा देखी। किसी समय मन्दिर रहा होगा जो अब ध्वस्त पड़ा हैं। मेरठ से लगभग १२५ कि०मी० यह स्थान हैं।

आज कल सब उल्टा-पुल्टा चल रहा है। साधु-श्रावक सब भ्रष्ट व ज्ञान हीन हो रहे हैं। तू मुझे सम्मानित कर मैं तुझे उच्च

पदवियों से सम्मानित करूं, ऐसा चल रहा है। इसी प्रकार सब संत अपने-अपने नये-नये मठ तीर्थों के रूप में बना रहे हैं। पुरानों की अवमानना तथा नये तीर्थों का निर्माण—तभी तो ऐश-आरामशाह बनेगी और नाम भी होगा।

—**श्री हुकम चन्द जैन**, मेरठ

शोधादर्श समाचारों को चटपटा कर छापता है, अतः पाठक पढ़ने में रस लेते हैं। मैं भी पूरा पढ़ने का प्रयास करता हूँ। 'ते गुरु जहँ पग धरें, जग में तीरथ जेह' अच्छी बात है, किन्तु कल्याणक क्षेत्रों के विकास का आपका सुझाव सामयिक है। **शोधादर्श** को निकालने में आप पूरा श्रम करते हैं, इसके लिये आपको बधाई।

—**डा० रमेश चन्द जैन**, बिजनौर

गुरुगुण-कीर्तन में प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में श्री रमा कान्त जैन का लेख शोधपरक है किन्तु अन्त में विद्वान लेखक ने अपनी स्पष्ट मान्यता व्यक्त नहीं की। शोध की प्रक्रिया को अपनाया हैं। 'श्री प्रभाचन्द्र सूरिः व्यक्तित्व और कृतित्व' शोध न हुई हो तो पी-एच०डी० के लिए अच्छा विषय है। परिचर्चा—भगवान ऋषभदेव की निर्वाण भूमि—आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि के साथ सन् १९६९ में मैंने भी बद्रीनाथ की पद यात्रा की थी। विद्वान् परिचर्चा करने वालों ने विषय का उपसंहार नहीं किया। बिना ऐतिहासिक स्पष्ट आधार के यह परिचर्चा गन्तव्य तक पहुंचाने वाली नहीं है। 'ॐ—एक विमर्श' प्रेरणा दायक लेख है—मनन, चिन्तन एवं स्वाध्याय हेतु। पं० पद्मचन्द शास्त्री का लेख तर्कपूर्ण एवं विचारणीय है। इस अंक में कविताएं पत्रिका को सरस बनाने वाली हैं। इतिहास-मनीषी की जन्म-जयन्ति बड़ी सार्थक, प्रेरणादायिनी है। मुझे पढ़ कर लगा कि मैं भी उसमें होता।

—**डा० जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल**, आगरा

श्री अजित प्रसाद जी की 'सम्पादकीय' ने हृदय को झकझोर दिया है। पदवियों की मर्यादा अब गुणों पर केन्द्रित न रह कर अर्थ लोलुपता एवं चाटुकारिता पर आधारित हो चुकी है। आप जिस

अदम्य साहस के साथ शिथिलाचार पर कलम चला रहे हैं वैसी कलम चलाने का साहस अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा है किन्तु खेद इस बात का है कि सुधार कहीं पर अंश मात्र भी दिखाई नहीं दे पा रहा है।

—ब्र० संदीप 'सरल', बीना

'ॐ—एक विमर्श' नामक लघु आलेख में डा० मनोहर भंडारी ने ॐ को सर्व धर्म का प्रतीक प्रतिपादित किया है। यह सापेक्ष कथन है। सब धर्म वालों ने इसे अपना-अपना बना लिया है। महात्मा भगवान दीन जी का ॐ विषयक अनुभव परक लेख १९६३ में **श्रमण** वर्ष १४, अंक ८ में प्रकाशित हुआ था। वह **जैन जगत और तीर्थंकर** में भी छपा है। उसमें उन्होंने बताया था कि ३७ वर्ष तक वैज्ञानिक की भांति अनेक दृष्टि से विश्लेषण करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्वस्थ आदमी की डकार ॐ ध्वनि के रूप में ही निकलती है और ऐसी डकार स्वस्थ मनुष्य को आठ स्थितियों में आती है। शरीर को स्वस्थ बनाये रखना यदि धर्म है तो ॐ उस अर्थ में धर्म का लक्षण हो सकता है। यानी ॐ आरोग्य-शास्त्र का भी अंग है।

भ० ऋषभदेव की निर्वाण भूमि पर आपका विश्लेषण तथ्य और सत्य के निकट है। पुराणों के लाखों-लाख वर्ष की बात को किनारे रखकर, दस-पाँच वर्षों प्राचीन परिस्थिति को देखते हुए भी नहीं लगता कि वर्तमान कैलाश-मानसरोवर पर ऋषभदेव गये होंगे। हमारे पुराण ग्रन्थ तो पार्श्वनाथ को नौ हाथ और महावीर को सात हाथ उन्नत बताते हैं। लेकिन आप जानते हैं कि बड़ौदा के संग्रहालय में तीन हजार वर्ष पुरानी जो मानव-ममी रखी हैं, वे तो हम जैसी सामान्य आकृतियाँ हैं। पुराणों के आलंकारिक वर्णनों को कसौटी पर कैसे कसा जा सकता है?

'कैंसर में तब्दील होती शौरसेनी की गांठ' लेख भी विद्वानों के लिये चिन्तनीय है।

समाचार-विमर्श की टिप्पणियाँ तो शोधादर्श की 'मुखड़ा क्या देखे दर्पण में' जैसी झकझोरने वाली होती ही हैं।

अब हमें मुनियों की चर्चा बन्द कर देनी चाहिये। मुनियों की आचार संहिता यदि विचारक लोग नहीं बदलेंगे तो अब वे स्वयं ही अपनी प्रवृत्तियाँ तेज करके बदल डालेंगे ! निराकार अध्यात्म और फल-रहित तप को परम व्यावहारिक स्तर पर जीने की ओर वे अग्रसर होने लगे हैं ! स्वर्ण-लेखनी, सोने की फ्रेम के चश्मे, टी० वी० का अवलोकन, सुन्दरतम समयदर्शक घड़ियाँ (समयसार दर्शक नहीं), सेलोफोन का बीच बाजार में प्रयोग, यौन-शक्ति के प्रति जागरूकता, भारी-भरकम चक्षु बिधि संघ का संचालन—क्या ये उनकी सामाजिक और परम व्यावहारिक प्रगति के लक्षण नहीं हैं ? अब तो उन्हें हाथों से केश लोंच करने के बदले सुन्दर इलेक्ट्रानिक रेजर का उपयोग करना चाहिए। इसमें अहिंसा की रक्षा भी है। शरीर को सताने से बच कर वे ध्यान साधना में समय लगा सकेंगे। घर-गृहस्थी के त्यागी महात्माओं की परम साधना के लिये उनकी देह-रक्षा तो होनी ही चाहिए ! गांधी जी तीसरे दर्जे में यात्रा करते थे। पर पं० जवाहर लाल जी कहते थे कि बापू का तीसरा दर्जा भी प्रथम श्रेणी से अच्छा होता था। हमारे घरों की अपेक्षा मुनियों की कुटिया क्या वातानुकूलित नहीं होनी चाहिए ? अच्छा है, उनकी प्रगति पर खुश होइये, तालियाँ बजाइये !

तीर्थराज शिखर जी में तीस-चौबीसी के विशाल पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर जो-जैसा भीषण अग्नि-कांड हुआ, उसके कारण आगे की सारी कारवाई—सारे आयोजन तत्काल क्यों नहीं रोक दिये गये ? क्या हमारा विवेक या मार्मिक दर्द इतना संवेदन-शून्य हो गया कि हम धन-मद के आगे या पुण्य लाभ की स्वार्थ-लिप्सा या यश-प्रतिष्ठा के लालच में कुछ भी सोच नहीं सकते थे ? इसीलिए महान् ऋषियों ने कहा है कि अधिक सत्ता-सम्पत्ति मनुष्य

को दिग्भ्रमित कर ही देती है ! धृतराष्ट्र हो या धन-सम्राट—सब अन्धे हो ही जाते हैं ।

—**श्री जमनालाल जैन**, सारनाथ, वाराणसी

शोधादर्श पत्रिका पिताश्री (स्व० विद्या विनोद काला) को पसन्द थी, और वे आपके प्रयास को स्तुत्य मानते थे ।

—**श्री विवेक काला**, जयपुर

शोधादर्श-३७ मिला । लोकोक्ति है 'जिसका खाइये उसका गाइये' और 'परस्परं प्रशंसंति अहो रूपं अहो ध्वनि:' । अब चार-छ: महीने बाद सेठी जी का नम्बर आएगा मुनि जी को 'चारित्र-दिवाकर' की पदवी देने का । चारित्र-चक्रवर्ती की पदवी घिसी-पिटी हो गयी है । उसके प्राप्त करने में भी कोई आनन्द नहीं रहा है । चारित्र-मार्तण्ड, चारित्र-कमलाकर—नवीनता चाहिये ।

एक और लोकोक्ति है 'घर का भेदी लंका ढावे' । आजकल डाक्टर (पण्डित की बजाय) तो माता के उदर से ही पैदा होने लगे हैं । एक अनुभव हीन बच्चे ने अपने वर्ग को ही बिच्छु के समान कह कर एक साधारण तथ्य के अतिरिक्त कोई नयी बात नहीं कही है । लाभ यह हुआ है कि इस रहस्योद्घाटन से अब जन साधारण सावधान रहे डाक्टर की उपाधि से जो आजकल बिल्कुल सस्ती है, उससे प्रभावित और आतंकित न हो ।

जितने भारी संख्या में मुनियों के समारोह, मन्दिरों की प्रतिष्ठायें, साहित्य का मुद्रण समाज में हो रहा है, सब इन विद्वानों (?) को आजीविका और पुरस्कारों में व्यस्त रखने के लिये हो रहा है ।

डाक्टर-युग से पहले पण्डित का संबोधन प्राप्त करने के लिये कुछ तो ज्ञानार्जन करना पड़ता था—अब तो डाक्टर की उपाधि मुफ्त-बराबर लुटाने के लिये सैकड़ों विश्वविद्यालय हैं और मार्ग-दर्शक हजारों प्रोफेसर हैं ।

रत्नत्रय की पूजा में सम्यक्चारित्र के तेरह प्रकार हैं । उसमें दैनिक क्रियायें १५ की संख्या में जोड़ कर विद्वानों ने २८ मूल गुण

साधु के स्थापित किये हैं। मौलिक १३ भेदों से अधिक महत्व इन क्षेपक १५ गुणों का है। इन १५ में भी केवल एक नग्नत्व का और साथ देने के लिये नाटकीय आहार-ग्रहण क्रिया का और केशलोंच का। मुनि को इन तीन मूल गुणों का मोह है, जनता का क्षोभ करना धर्म-विरुद्ध है। किन्तु जनता को इस विज्ञापन का खर्चा देना आवश्यक है और प्रशंसा के पुल बांधना भी !

नग्नत्व पर्याय है—पर्याय नित्य मूल गुण नहीं हो सकती। नग्नत्व का (निष्कपटत्व का) idea मूल गुण हो सकता है।

—**श्री सुखमाल चन्द जैन**, नई दिल्ली

शोधादर्श पत्रिका की कई विशेषताओं से प्रभावित रहा हूँ। प्रथम तो यह कि आप सीमित साधनों में भी उसे नियमित रूप से प्रकाशित करते आ रहे हैं। दूसरे, आप अत्यन्त निर्भीकता पूर्वक इसमें नीर-क्षीर-विवेक की कसौटी पर कस कर निष्पक्ष विचार-धारा को प्रस्तुत कर आदर्श-पत्रकारिता के सिद्धान्त पर चल रहे हैं। वर्तमान काल में यह एक आदर्श नमूना है, जो प्राच्य कालीन **जैन हितैषी**, **अनेकान्त** (पं० जु० कि० मुख्तार कालीन) एवं **जैन सिद्धान्त भास्कर** (पूर्व कालीन) का स्मरण कराता है। तीसरे, **शोधादर्श** में प्रकाशित शोध-सामग्री प्रायः नवीन एवं मौलिक रहती है, जो तथ्यों की दृष्टि से सूचक, प्रेरक एवं रोचक होती है। चौथे, विविध समाचारों का प्रकाशन, स्वस्थ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ आदि भी उसके पाठकों को All Rounder बनाने की दृष्टि से उपयोगी हैं।

—**प्रो० डा० राजा राम जैन**, आरा

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६००४

डा० अभय प्रकाश जैन : एन-१४, चेतक पुरी, ग्वालियर-४७४००९

जस्टिस एम० एल० जैन : २१५, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनन्दा, नई दिल्ली-११००१५

डा० ऋषभ चन्द्र जैन 'फौजदार' : व्याख्याता, प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान; भारत भवन, पुराना थाना के पास, वैशाली-८४४१२८

डा० ज्योति प्रसाद जैन (स्व०) : विश्व-विश्रुत विद्वान

श्री धर्मेन्द्र मोहन सिन्हा : आई०ए०एस० (अ०-प्रा०); १७१-ए, आबू लेन, मेरठ कैन्ट-२५०००१

श्री नलिन कान्त जैन : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-४

डा० परमानन्द जड़िया : जड़िया-निवास, ५१, खत्री टोला, मशकगंज, लखनऊ-२२६०१८

डा० (बाल ब्र०) मनोरमा जैन : नेहरू विद्यालय, ब्राह्मणान गली, रोहतक-१२४००१

श्री रमा कान्त जैन : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

डा० लक्ष्मी मल्ल सिंघवी : सदस्य, राज्य सभा; १८, विलिंगडन क्रेसेन्ट, नई दिल्ली-११०००१

श्री विवेक काला : जर्नल हाउस, ए-९५, जनता कालोनी, जयपुर-३०२००४

श्री वेद प्रकाश गर्ग : १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर-२५१००२

कु० हेमा सक्सेना : तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति शोध पुस्तकालय, मुन्ने लाल कागजी धर्मशाला, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

डा० शशि कान्त : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४